प्रकरण :३

संगीत की विधाओं के घटक तत्त्वों का सौन्दर्य एवं रस से संबंध

३.१ : एक ललित कला के रूप में संगीत तथा उसमें रस निष्पत्ति।

३.२ : संगीत की विधाओं के मूलभूत घटक एवं उनका रस से संबंध।

३.१ : एक ललित कला के रूप में संगीत तथा उसमें रस निष्पत्ति

"रसप्रधानमिच्छन्ति तौर्यत्रिकमिदंविदः।
तत्सामान्यविशेषाभ्यामधुनाभिदधे रसम्।।"

- 'संगीतरत्नाकर' (अध्याय ७)।

अर्थात्, संगीतशास्त्र के ज्ञानी विद्वानों का कथन है, कि रस ही संगीत में प्रधान तत्त्व है, अतः मैं (ग्रंथकार) रस का सामान्य स्वरुप तथा उसके प्रकार बताकर रस का निरूपण करता हूँ।[१]

'संगीत रत्नाकर' में प्रबलतापूर्वक कहा गया है, कि संगीत समस्त चराचर को आनंदविभोर - रसविभोर - करता है। 'नाट्यशास्त्र' में भरतमुनि ने इसे गंधर्व विद्या बताकर इसकी अनुभूति (न केवल मनुष्य, अपितु) देवताओं के लिए भी प्रीतिकर मानी है। 'बृहदारण्यक' में पितृलोक में प्राप्य आनंद की अपेक्षा संगीतमय गंधर्वलोक में प्राप्य आनंद को सौ (१००) गुना से भी अधिक श्रेष्ठ बताया गया है। एक उपनिषद में बताया गया है, कि संगीत के मर्म को पूर्णतः समझने वाला व्यक्ति अमृतत्त्व को प्राप्त करता है।[२]

अन्य ललित कलाओं की तरह संगीत भी हृदयस्थित भावों को जागृत करके, उनका साक्षात्कार करवाके रसास्वादन करवाता है तथा उसके जरिए आत्मा के आनंदमय स्वरुप का अनुभव करवाता है। संगीत से लौकिक तथा अलौकिक दोनों प्रकार के आनंद प्राप्य है। अस्तित्त्व, जीवन, नियति के उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद, इत्यादि द्वन्द्वात्मक पहलूओं को अन्य ललित कलाओं की तरह संगीत भी अभिव्यक्त करता है।

संगीत स्थान (space) तथा काल (time) दोनों से संलग्न विधा (कला) है। गतिमय कला होने के नाते संगीत अस्तित्त्व की जड़ता के स्थान पर प्रवाह उत्पन्न

करता है। संगीत के मूलभूत तत्त्व नाद का प्रभाव सर्वत्र है। नाद की इसी प्रभावी लाक्षणिकता को ध्यान में लेते हुए महर्षि भरत ने गीत को नाट्य की शय्या कहा है। संभवतः उनका तात्त्पर्य है, कि नाट्य गीत (संगीत) को आधीन है, उस पर निर्भर है।[३]

सौन्दर्यशास्त्रीओं ने प्रत्येक ललित कला का निजी ढंग तथा महत्त्व मानते हुए भी उनके भौतिक अस्तित्त्व के आधार पर उनकी श्रेणी तय की है। कला में उपयुक्त माध्यम की सूक्ष्मता के आधार पर कला की श्रेष्ठता मानी गई है, क्योंकि विद्वानों का मत है, कि सूक्ष्मतम माध्यम सूक्ष्मतम भावों को अभिव्यक्त करने के लिए सक्षम है। स्थापत्य कला के माध्यम पत्थर, मिट्टी, काष्ठ (लकड़ी), इंट, रेत, धातुएँ, इत्यादि ललित कला के माध्यमों में स्थूलतम हैं, जिनसे अत्यंत सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति पूर्णतः संभव नहीं। शिल्प कला के माध्यम पत्थर, मिट्टी, काष्ठ (लकड़ी), धातुएँ, के उपरांत लाख, मोम, प्लास्टर ऑफ़ पेरिस, इत्यादि भी हैं, जो स्थापत्य कला के माध्यम की अपेक्षा कुछ हद तक सूक्ष्म भाव प्रदर्शित करने के लिए सक्षम हैं। चित्र कला के माध्यम रेखा तथा रंग स्थापत्य तथा शिल्प की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होने के बावजूद भी ये मौन कला अत्यंत सूक्ष्म मनोभावों को अभिव्यक्त नहीं कर पाती। साहित्य कला का माध्यम शब्द अत्यंत सक्षम है, भावनाओं की स्पष्टतम अभिव्यक्ति उससे संभव है; परंतु वह भाषा के आधीन है, यह उसकी मर्यादा है, क्योंकि कई मनोभावों की प्रस्तुति भाषा से परे होती है। संगीत कला के मूलभूत माध्यम स्वर तथा लय को कला के सभी माध्यमों में सूक्ष्मतम माना गया है। माध्यम की सूक्ष्मता का उत्कृष्ट उदाहरण संगीत कला है। स्वर-लय जैसे अति सूक्ष्म उपादान भावों की गहराई को जिस हद तक अभिव्यक्त कर सकते हैं, वह अन्य माध्यमों के लिए अत्यंत कठिन (या असंभव) है। अतः रस-निष्पत्ति के परिप्रेक्ष्य में संगीत को सर्वश्रेष्ठ कला माना गया है। रस हरेक कला का प्राणतत्त्व है, उसकी निष्पत्ति ही हरेक कला का लक्ष्य है, पर संगीत के माध्यम से रसाभिव्यक्ति अत्याधिक असरकारक, प्रभावपूर्ण मानी गई है। आचार्य

कैलाशचन्द्रदेव बृहस्पति जी के अनुसार, भाषा क्वचित मनोभावों की अभिव्यक्ति में असमर्थ हो जाती है, परंतु नाद कभी नहीं।[४]

आम बातचीत के दौरान भाव के अनुरूप ध्वनि के उतार-चढ़ाव वाक्य के अर्थ-बोध के प्रभाव में वृद्धि करते हैं - जो स्वयंभू तथा प्रयत्नसाध्य - दोनों हो सकते हैं। संगीत ध्वनि के उतार-चढ़ाव पर आधारित कला है। अतः विदीत है, की उसमें भावाभिव्यक्ति अत्याधिक प्रभावी है, सहज है।

संगीत को 'moving art' कहा गया है। चल कला होने के नाते वह समय के साथ सतत चलती रहती है। उसके एक ही अंश का पुनः रसास्वादन संभव नहीं है। अतः इसमें कलाकार के साथ रसिक को भी अत्याधिक जाग्रत रहना पड़ता है। बीते हुए क्षण पर अगला क्षण निर्भर होता है, अतः क्षणिक बेध्यान होना भी रसभंग करवा सकता है। संगीत नित्य नवीन, जीवंत कला है। एक कला के रूप में संगीत जितना बंदिस्त है, उतना ही मुक्त भी है।

एक ललित कला के रूप में संगीत का निजी स्वरुप है, प्रभाव है, उसकी अपनी रीत-रस्म हैं। स्थापत्य, शिल्प, चित्र तथा साहित्य की तुलना में संगीत इस प्रकार भिन्न है, कि आम तौर पर देखा जाए तो इन सभी कलाओं का आस्वाद लेने के लिए मनुष्य में एक निश्चित स्तर की समज शक्ति होनी चाहिए। उसे एक हद तक पुख्त (matured) होना पड़ता है, शिक्षित होना पड़ता है। तभी उसे इन कलाओं में सौन्दर्य की, आनंद की अनुभूति होती है। जबकि संगीत ऐसी कला है, जिससे मनुष्य जन्म से पहले गर्भ में भी प्रभावित होता है। बचपन में बिलकुल अबोध अवस्था में भी उसे किसी न किसी रूप में संगीत भाता है। छोटे से बालक पर लौरी का प्रभाव इसका उदाहरण है। विदीत है, कि उसमें जो शब्द - साहित्य - है, उसका अर्थबोध तो शिशु को होना संभव नहीं। वह तो सांगीतिक प्रभाव से शांत होकर निद्राधीन होता है। संगीत समाज के प्रायः सभी वर्गों के, किसी भी आयु के लोगों के मन को स्पर्शता है। वे

कोई न कोई रूप में संगीत से संलग्न होते हैं। ऐसा शायद कोई भी व्यक्ति नहीं मिलेगा जो संगीत (गायन-वादन-नर्तन) सुनता-देखता न हो या उसे संगीत पसंद न हो।

संगीत कला का प्रभाव सीधा मानव हृदय पर अविलंब पड़ता है, उसे समझने की आवश्यकता नहीं होती। यही कारण है कि संगीत का रसास्वादन केवल ज्ञानी, विद्वान के लिए सीमित न होते हुए सामान्य मनुष्य, यहाँ तक कि मूक पशु-पक्षी तथा वनस्पति के लिए भी स्वतःसंभव है। इस दृष्टिकोण से ललित कलाओं में संगीत का स्थान उत्कृष्टतम है। संगीत से प्राप्य परमानंद शाश्वत है, सनातन सत्य है।

पंडित सारंगदेव के अनुसार नाद ही ब्रह्म है, सार्वभौम है, सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है और आनंद स्वरुप है। इसीलिए संगीत का रसानुभव सभी को होता है। स्वर-सन्निवेश में अद्भुत शक्ति होती है। उसका माधुर्य अंतर तत्त्व को प्रोत्तेजित, अभिभूत करता है। वह सर्वाधिक प्रभावशाली एवं व्यापक माना गया है। संगीत कला की रंजकता प्रत्येक अवस्था में आत्म-विभोर कर देती है। भाषा जिन अनुभूतिओं का संकेत तक नहीं कर पाती, संगीत सहजतापूर्वक उनकी साक्षात् प्रतीति कराने के लिए सक्षम है।[५]

सौन्दर्य तत्त्व एक ही है, जिसकी कई माध्यमों से उपासना की जा सकती है। इनमें संगीत को सर्वाधिक सरल एवं लोक-रंजक माना गया है।

संगीत प्रकृति एवं प्राकृतिक तत्त्वों से काफ़ी निकट है। विशेषतः भारतीय संगीत। इसमें स्वरों की उत्पत्ति पशु-पक्षीओं की आवाज़ - बोली - के अनुकरण से मानी गई है। संगीत में उपयुक्त वाद्य प्रायः प्राकृतिक चीज़ों से बने हैं। चमड़ा, सिंग, लकड़ी, धातु, दांत, हड्डी, ताँत, इत्यादि के उपयोग से उत्पन्न नाद निश्चित रूप से प्रकृति से करीबी एहसास दिलवाता है। भारतीय राग संगीत समयानुसार प्रकृति के प्रभाव से संलग्न है। रागों में ॠतु एवं प्रहर का, उस समय की मानसिक स्थिति का प्रभाव झलकता है। संभवतः यही कारण है, कि न केवल मनुष्य, बल्कि पशु-पक्षी,

यहाँ तक कि वनस्पति पर भी संगीत का बड़ा हकारात्मक असर होता है, वे भी संगीत का रसास्वादन करते हैं। भारतीय संगीत में निहित आध्यात्मिक रसानुभूति का एक महत्त्वपूर्ण कारण उसका प्रकृति से नैकट्य है, क्योंकि प्रकृति से नैकट्य होना आध्यात्म से नैकट्य प्राप्त करने का स्वाभाविक परिबल है।

उपनिषद काल में संगीत का आध्यात्मिक मूल्य पूर्णतः पहचाना गया। 'छन्दोग्य' उपनिषद में 'उदगीथोपासना' के विषय में लिखा गया। पवित्र शब्द 'ॐ' को ब्राह्मण गण वीणा की संगत से गाते हुए उस पर चिंतन किया करते थे, जिसे 'उदगीथा' कहा जाता था। 'उदगीथा' से परम तत्त्व की प्रतीति संभव मानी गई थी। याज्ञवल्क्य मुनि ने संगीत को मुक्ति का मार्ग बताया है।

पंडित सारंगदेव की तरह पंडित कल्लिनाथ जैसे कई विद्वान नाद-ब्रह्मवाद के समर्थक रहे। संगीत का नाद-ब्रह्मवाद योगशास्त्र के प्रभाव में विकसित हुआ है। योग में १० चक्रों का वर्णन है, जो मानव-शरीर के विभिन्न भाग हैं और वहाँ श्वासोच्छवास की प्रक्रिया के साथ ध्यान केन्द्रित करके परम तत्त्व की प्रतीति तक जाना होता है। इन १० चक्रों में १) आधार चक्र, २) स्वाधिष्ठान चक्र, ३) मणि पूरक चक्र, ४) अनाहत चक्र, ५) विशुद्धि चक्र, ६) ललना चक्र, ७) आज्ञा चक्र, ८) मनस चक्र, ९) सोम चक्र तथा १०) सुधाधर चक्र समाविष्ट हैं। इनमें से अनाहत चक्र (हृदय स्थित), विशुद्धि चक्र (कंठ स्थित) तथा ललना चक्र (जिह्वा स्थित) का प्रयोग भारतीय (कंठ्य) संगीतमें माना गया है। योगशास्त्र के अंतर्गत दो प्रकार हठयोग तथा राजयोग पैकी हठयोग में नाद पर मानसिक ध्यान केन्द्रित किया जाता है, जिसे नादोपासना कहा गया है। आदिनाथ शिव द्वारा प्रदान किये गए मुक्ति मार्गों में से एक नादोपासना भी माना गया है।[६]

प्राचीन समय से ही भारत में नाद को अनन्य-साधारण महत्त्व दिया गया है। अध्यात्म शास्त्र के मुताबिक हृदय तक पहुँचने वाली प्रेरणा का संचार नाद के माध्यम

से होता है। इस धारणा के कारण ही सर्व प्राणियों की कृति, प्रवृत्ति पर नियंत्रण बनाये रखने की क्षमता नाद में है, ऐसा माना जाता है।[७]

भारतीय संस्कृति में नाद को 'ब्रह्म' मानकर उसकी उपासना करने की परंपरा रही है। योग अनाहत नाद की उपासना का मार्ग माना गया है, तो संगीत आहत नाद की उपासना का मार्ग माना गया है। दोनों को ही मुक्तिप्रद मानकर मोक्ष-प्राप्ति के मार्ग माना गया है। विदीत है, कि भारतीय संस्कृति ने संगीत को आध्यात्मिक योग-साधना के समकक्ष माना है।

संगीत सभी मानवीय भावों की अभिव्यक्ति करता है, जो सीधा आत्मा को प्रभावित करता है। संगीत व्यक्ति को आसानी से परम तत्त्व में लीन कर सकता है। इसीलिए उसे इश्वर-आराधना का प्रबल माध्यम माना गया है। इतना ही नहीं, संगीत में अप्रच्छन रूप से इश्वर का अस्तित्त्व मानते हुए विद्वानों ने संगीत के जरिए इश्वर साक्षात्कार को भी संभव माना है।

मनुष्य की संवेदना, उसकी भावना पर संस्कृति का गहरा प्रभाव होता है। मनुष्य संस्कृति का निर्माण करता है, फिर वही संस्कृति अगली पीढ़ीओं का निर्माण करती है। मनुष्य जिस संस्कृति से संलग्न हो, उसके मुताबिक उसका भाव जगत आकार लेता है। भारतीय संस्कृति पर धर्म तथा आध्यात्म का गहरा प्रभाव है। हमारी पारंपारिक संस्कृति में जीवन के प्रायः सभी पहलूओं को धर्म के साथ जोड़ा गया है। सांस्कृतिक परंपराओं ने भारतीय मनुष्य को बड़ा धार्मिक बनाया है। उसकी संवेदना, भावना धर्म तथा इश्वर से जुड़ी हुई हैं। अतः स्वाभाविक रूप से भारतीय ललित कलाओं में धर्म तथा इश्वर का स्थान बहुत मायने रखता है, जिनमें संगीत भी समाविष्ट है।

भारतीय (विशेषतः शास्त्रीय) संगीत की एक विशेषता है, कि उसकी प्रस्तुति हमेशा से इश्वर के उपलक्ष्य में मानी जाती है, उनके चरणों में पूजा के रूप में समर्पित

की जाती है। उसमें कथावस्तु के नायक के रूप में मुख्यतः इश्वर ही की कल्पना की गई है, तथा नायिका स्वरुप कलाकार कला के माध्यम से उनके प्रति अपनी भावनाएँ अभिव्यक्त करता है। भगवान तथा भक्त का, साध्य तथा साधक का संबंध नायक-नायिका संबंध की कथावस्तु के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। कलाकार अपनी कला के माध्यम से परम तत्त्व को ही पुकार करता है, उन्हीं का ध्यान करता है। अत्याधिक बंदिशों में नायिका की पुकार का भाव होता है, किन्तु पुरुष गायक भी उसे उतना ही भावपूर्ण, तन्मयता से गाते हैं, यही इस बात का प्रमाण है। कलाकार स्त्री हो या पुरुष, भारतीय संगीत में वह इश्वर को ही नायक के रूप में मानकर स्वयं नायिका के रूप में उनकी आराधना करता है। नायक-नायिका संबंध में हर प्रकार की भावनाएँ शामिल होने से नव रस की अनुभूति तो होती ही है, परंतु अभिव्यक्ति इश्वरीय तत्त्व के उपलक्ष्य में होने से आध्यात्मिक, समर्पित, उपासना भाव कायम रहता है। उल्लेखनीय है, कि गायन तथा नर्तन विधा का साहित्य उपरोक्त कथन को स्पष्ट करता है। वादन विधा में शब्द पक्ष न होते हुए भी उसका उद्देश्य, लक्ष्य इश्वरोपासना ही होता है, समर्पण की भावना निहित होती है।

संगीत लगभग तमाम धार्मिक विधि-विधानों का हिस्सा होता है, जिसके माध्यम से व्यक्ति की आत्मा दिव्य सौन्दर्य के रूप में परम तत्त्व का अनुभव करती है। अन्य भारतीय कलाओं की तरह भारतीय संगीत भी उसके बाह्य सौन्दर्य के उपरांत अत्यंत गहन है। भारतीय मतानुसार, उत्कृष्ट, परिशुद्ध संगीत की स्फुरणा के लिए वैयक्तिक उच्चता, पवित्रता अनिवार्य है।

रस तत्त्व आंतरिक मनोभावों का ही परिष्कृत रूप होने से मन की गहराई में स्थित सूक्ष्मतम भाव जगत एवं अंतरात्मा से उसका घनिष्ठ संबंध है। अतः रस तत्त्व को अभिव्यक्ति देने वाला, आध्यात्मिक परमानंद देने वाला यह संगीत, आत्मा को परितृप्त करता है। कई पाश्चात्य संगीतज्ञों ने भी भारतीय संगीत को ‘आत्मा का

संगीत’ कहकर सराहा है। इसकी यही विशेषता से आकर्षित होकर कई पाश्चात्य लोग उसके माध्यम से परम तत्त्व से ऐक्य साधने का प्रयास करते हैं।

भाव-रस को साथ लेकर चलने वाला संगीत वास्तव में एक दैवी कला है। खास करके भारतीय शास्त्रीय संगीत अपने आप में अत्यंत पवित्र, आध्यात्मिक, इश्वरीय संगीत है। वह विभिन्न रस के साथ भी एक समर्पितता, अर्चना का भाव कायम रखता है। वह सुन्दर तत्त्व की उपासना के मार्ग से व्यक्ति को आध्यात्मिक दृष्टि से परिष्कृत करता है। ऋषि-मुनिओं की तपस्या का एक अजीब-सा लक्षण है, उसमें कठोर तप करने के बावजूद भी कुछ ऐसा अलौकिक, दिव्यतत्त्व प्राप्त होता है, जो साधक को धन्य कर देता है। संगीत की उपासना की भी यही विशेषता है। साधक कठोर परिश्रम, शारीरिक-मानसिक तपस्या करके कुछ अत्यंत उच्च, पवित्र, दिव्य तत्त्व पाकर अलौकिक शांति, सुख, आनंद प्राप्त करता है। लेकिन रस तत्त्व की उपस्थिति परिश्रम की कठोरता को परमानंद में परिवर्तित कर देती है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत आंतरिक संवेदनाओं, भावनाओं को परिष्कृत करते हुए, सौन्दर्य के माध्यम से परमात्मा की आनंद सभर उपासना करने का सटीक मार्ग है। संगीत से प्राप्य आनंद ब्रह्मानंद सहोदर आनंद है। आध्यात्मिकता तथा स-रसता का सुन्दर मेल भारतीय शास्त्रीय संगीत की विशेषता है। उसमें निहित रस तत्त्व कलाकार एवं श्रोता-दर्शक दोनों को भावनागत कृतकृत्यता प्रदान करके विशुद्ध परमानंद की ओर ले चलता है।

हर्ष-शोक आदि भावनाओं का नाद से तादात्म्य होने पर जो सौन्दर्यबोध होता है, वह व्यक्तिगत राग-द्वेष के भार से मुक्ति दिलवाता है। भारतीय संगीत का लक्ष्य आहत से अनाहत की, आनंद से परमानंद की, साकार से निराकार की, सावरण से निरावरण की, खंड से अखंड की तथा सविकल्प से निर्विकल्प की प्राप्ति है।

संसार में समस्त चेतन प्राणी विषयों के आनंद के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। विषयों की उपलब्धि न होने से संघर्ष होता है। अनैतिकता, अधर्म बढ़ जाता है, समाज का स्तर निम्न होता चलता है। संगीत ऐसी कला है, जो मनुष्य को इन सांसारिक विषयों से अलग करती है। संगीतज्ञ निरंतर संगीत की धुन में मस्त-व्यस्त रहता है। उसे विषयों की चिंता नहीं रह जाती। अतः ऐसा कहना अनुचित नहीं है, कि संगीत का स्थान ललित कलाओं में श्रेष्ठतम है।[८]

भारतीय संगीत की व्यापकता मनोरंजन से लेकर मोक्ष तक है। भारतीय दर्शन के अनुसार मनुष्य जीवन का उद्देश्य आत्मा की खोज है। इस आंतरिक चैतन्य की प्रतीति मोक्षप्रद मानी गई है। इसके कई मार्ग में संगीत को भी स्थान दिया गया है, यही संगीत कला की उच्चता का, श्रेष्ठता का प्रमाण है। रसिकजनों के लिए उच्च श्रेणी का आनंद प्रदान करने वाला संगीत कलाकार के लिए साधना का परम मार्ग है, ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा। नाद उपासना आत्मिक उन्नति का कारण बनती है। मनोभावों का उत्कृष्ट आलेखन गहन तृप्ति, परितोष, शांति, संतृप्ति प्रदान करता है, जो अन्यों को भी सुखकर होने पर कर्ता (कलाकार) के मन में विशिष्ट मानसिक शक्ति जाग्रत करता है। परमात्मा से युति धन्यता का अनुभव करवाती है।

सभी कलाएँ मनुष्य की भावनाओं को अभिव्यक्त एवं प्रभावित करती हैं, करने सक्षम हैं, परंतु संगीत का प्रभाव निःसंदेह विलक्षण है। भाव-प्रदर्शन में अन्य कलाओं की अपेक्षा संगीत का क्षेत्र अत्याधिक विस्तृत है। विद्वानों ने इसके माध्यम ध्वनि को संपूर्ण संसार की रचना का नीवीं तत्त्व मानते हुए उसे सर्वाधिक शक्तिशाली बताया है।[९] अन्य कलाओं की तुलना में संगीत मनुष्य (या पशु-पक्षी / वनस्पति) की संवेगात्मक शक्ति पर अधिक तीव्रता और शीघ्रता से प्रभाव उत्पन्न करता है। ध्वनि की क्रिया केवल अधिक आकस्मिक न होकर अधिक सशक्त एवं प्रत्यक्ष भी होती है। अन्य कलाएँ प्ररोपित करती हैं, किन्तु संगीत हमें आकस्मिक रूप से ही प्रभावित करती है। इसकी विशेषता, विशिष्टता भावनाओं पर आधिपत्य जमा लेती है। इसका

सर्वाधिक स्पष्ट अनुभव तब होता है, जब मनुष्य अस्वाभाविक आनंद या अवसाद की अवस्था में होता है। मन की इन अवस्थाओं में स्थापत्य, शिल्प, चित्र या साहित्य जैसी कलाएँ अपने सौन्दर्य का सक्रिय अभिरूप उत्पन्न करने में असफल हो जाती है, तब भी संगीत अपना प्रभाव कायम करता है। समान परिस्थितिओं में भी अन्य कलाएँ संगीत को इतनी शीघ्रता तथा तीव्रता से प्रभावित नहीं कर सकती। संगीत के रूप, वैशिष्ट्य की पृथकता समाप्त हो जाती है, रसिक उस ध्वनि में से स्वयं को अलग करने में असमर्थ हो जाते हैं। संगीत के प्रति सजग नहीं रहने पर भी उसकी उसकी असीम शक्ति शरीर की प्रत्येक शिरा में रोमांच का संचार करती है। अतः अन्य कलाओं की अपेक्षा संगीत की शक्ति को प्रधान माना गया है।[१०]

संगीत के रसिक का मर्मज्ञ नहीं, परंतु सहृदय होना परम आवश्यक है। कारण, संगीत समझने की नहीं, अपितु अनुभव करने की चीज़ है। महर्षियों, प्राचीन संगीतज्ञों, ने नाद-सौन्दर्य से उत्पन्न रस तत्त्व पर विचार करके आनंद देने वाले नियमों की स्थापना की। ऐसे संगीत का सृजन करना चाहा, जो मनुष्य को सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की ओर ले चले। भारतीय संगीत को चारों वेदों का सार कहा गया है। 'संगीत संहिता' में लिखा गया है, कि "पूजा से कोटि श्रेष्ठ ध्यान है, ध्यान से श्रेष्ठ जप है और जप से कोटि गुण श्रेष्ठ गान है, गान से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं।"[११]

आचार्य अभिनवगुप्त ने संगीत के प्रभाव के विषय में कहा है, कि संगीत का सौन्दर्यानुभव आनंद का उत्कृष्ट, श्रेष्ठ स्तरीय अनुभव है। उनका मत है, कि सहृदय यानि रसिक वह है, जो उत्कृष्ट स्तर तक स्वयं को उजागर कर सके। यदि न कर सके, तो वह अहृदय - अरसिक है। विदीत है, कि उनका तात्पर्य यह है, कि संगीत सर्वाधिक प्रभावी कला है, जिससे प्रभावित न होने वाला व्यक्ति अहृदय - असंवेदनशील ही होगा।[१२]

रस का चरम परिपाक जितना सहज रूप से, जितने स्वाभाविक रूप से संगीत के द्वारा हो सकता है, उतना और किसी विधा से नहीं।

अन्य कलाओं की तरह भारतीय संगीत का उद्देश्य भावनाओं की अभिव्यक्ति एवं सौन्दर्य निर्मिति है। भारतीय संगीत विद्वानों के अनुसार राग संगीत आनंद, वास्तव, सत्य, स्वयं एवं मोक्ष की प्राप्ति का सरलतम, सौन्दर्यमय मार्ग है।

ब्रह्मर्षि दैवरात प्रणित श्लोक है, जो संगीत के प्रभाव के विषय में बताता है :

"सङ्गीत सामवेदे स्वर-रस-समता-योगतो गायनार्हे
गान्धर्वाख्योपवेदे जनजगदधिपप्रत्यगात्मप्रसादे।
सिद्धाः सप्तस्वरास्ते त्रिषवणगुणतो मन्द्रमध्योच्चतारा
बद्धाः सोमानरूपाः प्रतिपदमुदिताः स्थूलसूक्ष्मातिसूक्ष्माः। ।"

अर्थात्, स्वर और रस के साम्ययोग से गेय सामवेद में एवं राजा तथा प्रजा के अंतरात्मा को समान रूप से प्रसन्न करने वाले गान्धर्व उपवेद में संगीत विद्यमान है। उस संगीत में सिद्ध सात स्वर प्रातः, मध्याह्न तथा सायं सवन के योग से स्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म होने के कारण क्रमशः मंद्र, मध्य और तार रूप से विभाजित होकर सर्वत्र सोपान रूप से बंधे हुए कहे गए हैं।

"वेदात्मा ज्ञानभूमा सकलरसतमा सर्वचित् सार्वभौमा
वेद्यावेद्याभिरामा भगवदवगमा विश्वविद्याविरामा।
सङ्गीत सर्वविद्यासमरसमुदितं "श्रीकलाभारती" सा
स्वीकुर्यात् पूर्णभावाद भगवदनुगतं "दैवराता" - भिगीतम्।।"

अर्थात्, वेद ही जिसकी आत्मा है, ज्ञान की जो पराकाष्ठा है, जो सभी रसों से पूर्ण है, जो सर्वज्ञ-रूप है और सार्वभौम शक्ति है, वेद्य और अवेद्य वस्तुतत्त्वों से जो मनोरम्य बनी हुई है, जो भगवान की अनुभवशक्ति है, सभी विद्याओं की जो विरामरुपा है, इस

प्रकार की वह 'श्रीकला'-रूपिणी भारती वाग् देवता - भगवान के गुणानुवाद में लगे हुए, सभी विद्याओं के समरस से प्रह्यष्ट तथा छन्दोमयी वाणी में दैवरात द्वारा गाये हुए इस संगीत को पूर्ण भाव से स्वीकार करें, ऐसी भावना है।

अभिनवगुप्त का कथन है, कि "निजसुखदुःखादिविवशीभूतश्च कथं वस्तवन्तरे संविदं विश्राम - येदिति तत्प्रत्यहव्यपोहनाय प्रतिपदार्थनिष्ठैः साधारण्य - महिम्ना सकलभोग्यत्त्वसहिष्णुभिः शब्दादिविषयमयैरातोद्यगानविचित्रमण्डप - पदविदग्ध-गणिकादि भिरूपरञ्जनं समाश्रितम्। येनाहृदयोऽपि हृदयवैमल्यप्राप्त्या सहृदयीक्रियते। उत्त्कं हि 'दृश्यं श्रव्यं च'।"

भावार्थ यह है, कि निजी सुख-दुःख इत्यादि को स्थिर रखकर जो सह्य, सर्वभोग्य, रंजक स्वरुप में हो तथा उससे (भोक्ता भी) सहृदयी बने, वही वास्तव में 'दृश्य' या 'श्रव्य' है।

शास्त्रों में लिखा गया है, कि संगीत 'अहृदय' को 'सहृदय' में परिवर्तित करता है, करने सक्षम है।[१३]

सिर्फ़ आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं, बल्कि वैज्ञानिक दृष्टि से भी संगीत अत्याधिक महत्वपूर्ण है। आधुनिक समय में विज्ञान ने स्वास्थ्य पर संगीत के कई लाभ सिद्ध किये हैं। संगीत का मानसपटल पर प्रभाव देखकर विदीत होता है, कि उसका उपयोग मानसिक रोगों में चिकित्सा के लिए किया जा सकता है। मानसिक दृष्टि से अविकसित, अस्वस्थ; संवेदात्मक रूप से अनियंत्रित व्यक्तिओं के लिए संगीत लाभदायी सिद्ध हुआ है।

चार्ल्स कील तथा आंगेलिकी नामक दो संगीत शास्त्रीयों ने मानसिक रोगियों के दो समूह किये। एक को उन्होंने विदेशी (पाश्चात्य) संगीत सुनाया तथा दुसरे समूह को भारतीय संगीत के राग सुनाए। प्रयोग के परिणाम स्वरुप उन्होंने पाया, कि भारतीय राग संगीत से प्राप्य फल पाश्चात्य - विदेशी - संगीत की अपेक्षा अधिक

सराहनीय था। वास्तव में स्वरों के उच्चारण का ढंग, राग गायन-वादन की गति तथा स्वरों की तारता व तीव्रता पर बहुत कुछ रोग-चिकित्सा निर्भर करती है। डॉ. मनोरमा शर्मा ने अपने ग्रंथ 'म्युज़िक थेरेपी' में लिखा है, कि संगीत मनुष्य के लिए शामक का कार्य करके उसके वर्तन को हकारात्मक बनाता है। मानसिक एवं मस्तिष्क संबंधी तकलीफ में संगीत काफ़ी मददरूप होता है। उन्होंने संगीत को अच्छे आंतर-वैयक्तिक संबंधों के लिए भी सहायक माना है। संगीत को शातादायी, 'healing' बताया है। उनका मत है, कि सात स्वरों के 'tone', 'colour' और 'rythem' मानव शरीर की सात प्रकृति के अनुरूप हैं, उनसे 'match' होते हैं। वे मस्तिष्क को प्रेरित करते हैं, तनाव को हल्का करके, थकान दूर करते हैं। उन्होंने राग-संगीत को भावनाओं को अभिव्यक्त करने का सुव्यवस्थित मार्ग माना है। संगीत से मन की एकाग्रता में वृद्धि होती है, विचारों का एक ही कड़ी में परस्पर संबंध हो जाता है - वे एक शृंखला में बद्ध होते हैं। मानसिक अनुशासन, धार्मिकता, आध्यात्मिकता, उचित-अनुचित का नैतिक ज्ञान, इत्यादि में संगीत वृद्धि करता है। आत्मा को निश्चित तथा पवित्र देता है। संगीत क्षणभर में मनुष्य को रुला सकता है, क्षणभर में हँसा सकता है। युद्ध के ढ़ोल-नगाड़े, विवाह में शहनाई, इत्यादि मानसिक भावों को उत्तेजित करते हैं। सहयोगिता, सहानुभूति, एकता, साहस, इत्यादि भावनाएँ जाग्रत होती हैं। पारंपारिक संस्कृति में विभिन्न कार्यों (चक्की पीसना, धान काटना, फ़सल बोना, छत कूटना, कपड़े धोना, इत्यादि) के साथ उसके विशेष गीत गाये जाते थे। गौशाला में संगीत गूंजते रहने से गायें अधिक दूध देने लगी, ऐसा भी सिद्ध हुआ है।[१४]

संगीत सुनते हुए कार्य करने से उसका बोज, कंटाला, थकान कम हो जाते हैं, खास करके लंबा, यांत्रिक कार्य। संगीत कार्य की सूक्ष्मता, गति, कौशल्य तथा उत्साह, निर्णयशक्ति, सहकार, इत्यादि में वृद्धि करता है। मालिश की तरह संगीत भी रुधिर में उत्पन्न 'कॉर्टिझोल' नामक तनाव-रसायन की मात्रा कम करता है। शस्त्रक्रिया से पूर्व, उसके दौरान तथा उसके पश्चात संगीत-श्रवण से चिंता एवं पीड़ा में काफ़ी कमी

आती है, पीड़ा शामक दवाईयाँ कम लेनी पड़ती है। संगीत से मस्तिष्क के कोषों की विचार क्षमता एवं लवचिकता में वृद्धि होती है। वे तनावरहित, हल्के हो जाते हैं। इससे चेताकोषों में हकारात्मक चेतारसायनों के स्राव में वृद्धि होती है। संगीत से 'डोपामिन' नामक चेता-रसायन के स्राव में वृद्धि होती है, जो आनंद में तरबतर करता है। अधिक आनंददायी, रसप्रद हिस्सा अभी आ रहा है, ऐसी उत्कंठा जाग्रत होने पर मस्तिष्क के कोषों में डोपामिन का स्राव बढ़ता ही जाता है। समस्या को रचनात्मक अंतःस्फुरणा से हल करने की क्षमता में वृद्धि होती है। व्यायाम की थकान तथा कंटाला दूर होता है। द्रूत लय में झमकदार संगीत जोश, उत्साहवर्धक होने से जिम इत्यादि में उसका उपयोग किया जाता है। संगीत से निद्रा गाढ़, शांत, जल्दी आती है, जो उठने के बाद अधिक फूर्ति का अनुभव करवाती है। सोने से पूर्व संगीत-श्रवण लाभदायी सिद्ध हुआ है। निद्रा की गुणवत्ता में संगीत-श्रवण से ३५% वृद्धि हुई, ऐसा एक अभ्यास का तारण है। ४०० जितने संशोधनों ने सिद्ध किया है, कि मनपसंद संगीत-श्रवण रोगप्रतिकार तंत्र द्वारा 'इम्युनोग्लोबल - ए' नामक रोगप्रतिकार तत्त्व के उत्पादन में वृद्धि करता है। कुदरती मारक कोषों को अधिक कार्यरत बनाता है, जिससे जिवाणु (बेक्टेरिया) तथा विषाणु (वायरस) का निकाल होता है। प्रतीक्षारत मन संगीत से धैर्य पाता है, समय अधिक लंबा नहीं लगता। स्टोर, बार, रेस्टोरंट में इसीलिए संगीत का उपयोग होता है, जो विलंबित लय का, शांत संगीत होता है। संगीत प्राणवायुयुक्त रुधिर का वहन करने वाली रक्तवाहिनी को खोलकर रक्तप्रवाह सरल बनाता है, जो रुधिराभिसरण तंत्र की कार्यक्षमता में वृद्धि करता है। मेरीलेंड यूनिवर्सिटी के एक प्रयोग के अनुसार, संगीत-श्रवण से रक्तवाहिनी २६% अधिक खुलती है। ब्लडप्रेशर, हार्ट-बीट की गति तथा चिंता की मात्रा में नोंधनीय कमी आती है। बच्चों पर भी हकारात्मक असर देखा गया है। मिजाज अच्छा रहने से पीड़ादायक तबीबी प्रक्रियाओं में मरीज़ का सहकार बना रहता है। अल्ज़ाईमर जैसी बिमारी में पूर्व कालीन संगीत मरीज़ को अपने भूतकाल से जोड़ता है। उसके अस्तित्त्व का बोध

कराता है। ज्योर्ज मेशन यूनिवर्सिटी के अभ्यास के मुताबिक मरीज़ों में संगीत से ज्ञानात्मक क्षमता तथा याददास्त में वृद्धि होती है।[१५]

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है, कि संगीत अन्य कलाओं की तरह सिर्फ़ मनोभावों की अभिव्यक्ति नहीं है। वह मनोभावों पर हकारात्मक असर करके ऐच्छिक भावनाओं को उजागर एवं अनैच्छिक भावनाओं को शमित करता है। ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा, कि संगीत ऐसी कला है, जिसका भावनाओं से संबंध द्विमार्गी है। सिर्फ़ कला भावनाओं से प्रभावित नहीं है, बल्कि भावनाएँ भी कला से प्रभावित हैं।

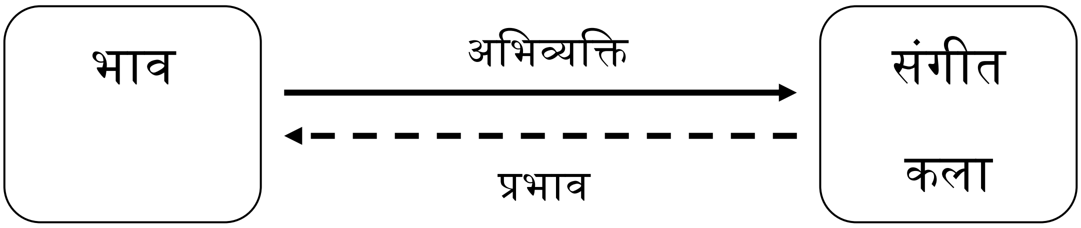

अन्य कलाओं में भी यह द्विमार्गी संबंध दृश्यमान होता है, पर संगीत में सर्वाधिक प्रमाण में होता है।

संगीत के इतने अधिक लाभ से मनुष्य अनभिज्ञ नहीं है। जाग्रत या अजाग्रत रूप से उसने संगीत के लाभ अनुभव किये ही हैं। संगीत रोग की चिकित्सा से भी अधिक तंदुरस्त, आरोग्यपूर्ण, स्वस्थ जीवनशैली के लिए लाभदायी है, जो रोग की संभावना ही कम करें। प्राचीन मानव संस्कृति ने ऐसी ही जीवन शैली का समर्थन किया है, उसे अपनाया है। अस्तित्त्व के लिए लाभदायी तत्त्वों को मनुष्य ने परंपरा में स्थान दिया, जिनमें संगीत भी समाविष्ट है। संगीत को मानव समाज ने न केवल एक ललित कला के रूप में, बल्कि दैनिक जीवन के रीति-रिवाज़ों के हिस्से के रूप में अपनाया है।

संगीत अति प्राचीन काल से मानव-जीवन से अत्यंत गहराई से जुड़ा हुआ पाया जाता है। वह वातावरण में प्रसरित होने का गुण रखता होने से आनंदमय, पवित्र माहौल खड़ा करता है, छा जाता है। यह इस कला का अगवापन है। प्रसंग के अनुरूप वातावरण खड़ा करने की इस क्षमता के कारण ही मनुष्य जीवन के किसी भी सुखद-दुःखद प्रसंग में संगीत प्रायः मौजूद होता ही है। पूजा, जन्म, मृत्यु, विवाह, विभिन्न प्रकार के उत्सव, सभी में कोई न कोई स्वरुप में संगीत (गायन-वादन-नर्तन) की उपस्थिति होती ही है। इन सभी प्रसंगों में मनुष्य की मनःस्थिति में वैविध्य होता है और उसमें उपयुक्त संगीत भी अनुरूप भाव का होता है। प्रसंगोचित भावों को व्यक्त करने के साथ ही संगीत उन भावनाओं में वृद्धि करने का कार्य भी करता है। जीवन के हर मक़ाम पर तो संगीत मनुष्य के साथ होता ही है, पर मृत्यु के बाद भी वह उसके साथ होता है। हमारे यहाँ मृत शरीर के पास भी प्रार्थना, भजन या धुन गाने की परंपरा है। इसके पीछे उद्देश्य यह होता है, कि मृतक की आत्मा को शांति, मुक्ति, मोक्ष प्राप्त हो। यही प्रमाण है, कि संगीत को आत्मा से संलग्न माना गया है।

संभवतः संगीत को अनुभव करने के लिए कोई बुद्धि, समज, पुख्तता की आवश्यकता इसीलिए नहीं मानी गई, क्योंकि उसका संबंध मस्तिष्क से न होते हुए संवेदना से भी आगे, आत्मा से है, गूढ़ चैतन्य से है। इस प्रकार संगीत को सभी ललित कलाओं में सबसे सूक्ष्म कला मानना अनुचित नहीं है।

सौन्दर्यशास्त्र के विद्वानों, मर्मज्ञों का कथन है, कि "सभी कलाएँ संगीत बनने का प्रयास करती है !" तात्पर्य यह है, कि संगीत जितनी सूक्ष्मता तक जाने की कोशिश करती है।[१६]

जर्मन कवि गेटे ने संगीत को विज्ञान तथा दर्शन से अधिक प्रभावी एवं उच्च माना है। प्लेटो के अनुसार शरीर के लिए व्यायाम का जो महत्त्व है, वही महत्त्व आत्मा के लिए संगीत का है। बिथोवन के अनुसार संगीत (युद्ध इत्यादि) कार्यक्षेत्र में

सफलता प्राप्त करने के लिए उत्साहित करता है, प्रेरणा प्रदान करता है। स्पेंगर के अनुसार संगीत मानवीय बोध की सर्वश्रेष्ठ कला है, जो भावनाओं को स्वर एवं लय के माध्यम से प्रस्तुत करती है। स्कोफेहाबर के अनुसार, "Form and content can not be seperated, since both are musical." अर्थात्, संगीत का सौन्दर्य रूप एवं वस्तु के एकीकरण में है। शेक्सपियर का कथन है, कि "The man who hath no music in himself or is not moved by the conchords of sweet music is fit for treason, stratagems and spoils, let no such man be trusted." अर्थात्, जो मनुष्य संगीत से नहीं पीगल सकता, वह विश्वासपात्र (सहृदयी, भावनाशील) नहीं हो सकता। हेन्सलीक का मत है, कि संगीत से भावनाओं का प्रवाह गतिमान होता है (परंतु उससे प्रेम, आनंद दुःख, उत्कंठा, इत्यादि स्पष्ट भावों का आविर्भाव संभव नहीं है)।

न केवल मनुष्य, बल्कि प्राणी भी अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए नाद-वैविध्य का उपयोग करते हैं। प्यार, भय या गुस्सा जैसे मनोभाव उनकी बोली में वैविध्य द्वारा व्यक्त होते हैं।

३.२ : संगीत की विधाओं के मूलभूत घटक एवं उनका रस से संबंध

३.२.१ : घटकों का प्राथमिक परिचय :-

"गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते।" - संगीत कला के अंतर्गत गायन, वादन तथा नर्तन - तीन विधाओं को माना गया है।

मूलतः संगीत नाद पर आधारित है। नाद उसका आधारभूत, नीवीं तत्त्व है। संगीत की विभिन्न विधाओं में भिन्न-भिन्न घटकों के साथ संयोजित होकर यह तत्त्व उजागर होता है और परिणाम स्वरुप सौन्दर्य निष्पत्ति करता है।

इन घटकों में श्रुति, स्वर, राग, लय, ताल, सामान्य (common) हैं, जो तीनों विधाओं में उपयुक्त हैं। इनके अतिरिक्त गायन विधा में शब्द, वादन विधा में वाद्य-विशेष के ध्वनि-लक्षण तथा नर्तन विधा में अभिनय भी मूलभूत घटक के रूप में समाविष्ट हैं।

भावाभिव्यक्ति से रस निष्पत्ति करने में श्रेष्ठ मानी गई संगीत कला के विषय में प्राचीन विद्वानों ने अत्यंत सूक्ष्मता से चिंतन, मनन, मंथन एवं विश्लेषण किया है। उन्होंने संगीत-प्रस्तुति से होने वाली रस निष्पत्ति का मूल सांगीतिक घटकों का रस से संबंध माना। उस पर विचार-विमर्श किया। फल स्वरुप संगीत-शास्त्र में इन घटकों का रस से क्या संबंध है, उस विषय पर भी चर्चा हुई है। प्राचीन विद्वानों द्वारा स्थापित किये गए इन सिद्धांतों पर विचार-विमर्श जारी रहा, जिसके परिणाम स्वरुप मध्यकालीन तथा आधुनिक विद्वानों ने भी इस विषय में अपने-अपने मंतव्य दिए हैं।

संगीत के मूलभूत घटकों के रस से संबंध के विषय में समग्रलक्षी चर्चा एवं विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत है।

३.२.२ : श्रुति :-

“श्रवाणात् श्रुत्योमतः। ”

- सारंगदेव, संगीत रत्नाकर।

“श्रुयन्ते इतिः श्रुतयः। ”

- कल्लिनाथ, सिंहभूपाल।

“श्रुतयः स्युः स्वरा भिन्ना श्रावणत्वेन हेतुना।
अहिकुराऽलतत् तत्रभेदोक्ति शास्त्रसम्मता। । ”

– पं. अहोबल, संगीत पारिजात।

अर्थात्, जिसका श्रवण हो सके, उसे विद्वानों ने ‘श्रुति’ संज्ञा दी है। परस्पर कम से कम अंतराल के ऐसे नाद, जो मानव-कर्ण द्वारा सुनकर पृथक्-पृथक् पहचाने जा सके, वह ‘श्रुति’ है। वस्तुतः श्रुति संगीत कला के आधार-रूप तत्त्व नाद की सबसे छोटी इकाई है।

नादब्रह्म की निरंतरता की अभिव्यक्ति का माध्यम परोक्ष रूप में श्रुतियाँ ही बताई गई हैं। नाद की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति स्वरों के माध्यम से होती है, जो कि श्रुति पर आधारित है। अतः नाद परोक्ष रूप से श्रुतिओं पर आधारित है, ऐसा विद्वानों का मंतव्य है। संगीत रत्नाकर, नाट्यशास्त्र, आदि ग्रंथों में श्रुतिओं की कुल संख्या बाईस (२२) बताई गई है, जिनका संबंध शरीर की बाईस नाड़ीओं से माना गया है।[१७]

२२ श्रुतिओं के नाम इस प्रकार हैं : १) तीव्रा २) कुमुद्वती ३) मंदा ४) छन्दोवती ५) दयावती ६) रंजनी ७) रतिका ८) रौद्री ९) क्रोधा १०) वज्रिका ११) प्रसारिणी १२) प्रीति १३) मार्जनी १४) क्षिति १५) रक्ता १६) संदीपनी १७) आलापिनी १८) मदन्ती १९) रोहिणी २०) रम्या २१) उग्रा और २२) क्षोभिणी।

प्राचीन काल में श्रुति को 'सुरथा' भी कहा जाता था, ऐसा विद्वानों द्वारा लिखा गया है। श्रुतिओं के लिए पाँच (५) जातिओं का भी उल्लेख मिलता है, जिनसे श्रुतिओं को संलग्न बताया गया है। यह पाँच (५) जातियाँ इस प्रकार बताई गई हैं : १) दीप्ता २) आयता ३) मृदु ४) करुणा तथा ५) मध्या।

विद्वानों ने हरेक श्रुति की जाति बताई है, जो इस प्रकार है :

	जाति		श्रुति
१)	दीप्ता	:	तीव्रा, रौद्री, वज्रिका, उग्रा।
२)	आयता	:	कुमुद्वती, क्रोधा, प्रसारिणी, संदीपनी, रोहिणी।
३)	मृदु	:	मंदा, रतिका, प्रीति, क्षिति।
४)	करुणा	:	दयावती, आलापिनी, मदन्ती।
५)	मध्या	:	छन्दोवती, रंजनी, मार्जनी, रक्ता, रम्या, क्षोभिणी। [१८]

संभवतः जातिओं के नाम लाक्षणिक भाव-विशेष की ओर संकेत करते हैं। प्राचीन विद्वानों द्वारा श्रुतिओं के लक्षण में कुछ निश्चित समानता एवं भिन्नता पाई गई होगी, जिसके परिणाम स्वरुप उपरोक्त वर्गीकरण हुआ होगा, ऐसा विदीत होता है।

कुछ मध्यकालीन / आधुनिक विद्वानों ने श्रुतिओं के नाम का अर्थ जाँचने का प्रयास किया तथा शास्त्रों में उसका आलेखन करके 'श्रुति' विषय में विस्तृत प्रकाश डाला। ये श्रुति-नाम के अर्थ इस प्रकार हैं :

श्रुति		नाम का अर्थ
०१) तीव्रा	:	तीव्र, चतुर, डरावना।
०२) कुमुद्वती	:	सफ़ेद कंवल जैसा, चन्द्रमुखी।
०३) मन्दा	:	वैराग्यपूर्ण, धीमा, सुस्त, ठंडा।
०४) छन्दोवती	:	संवादपूर्ण।
०५) दयावती	:	रहमदिल, नाजुक।
०६) रंजनी	:	अच्छा, रंगीन, हवसपूर्ण।
०७) रतिका	:	खुश।
०८) रौद्री	:	ज्वलंत, भयानक, विपत्तिपूर्ण।
०९) क्रोधा	:	गुस्सा।
१०) वज्रिका	:	गड़गड़ाहट, फौलादपूर्ण, तीखा।
११) प्रसारिणी	:	प्रसार, व्याप्त, संकोचपूर्ण।
१२) प्रीति	:	खुश, प्यारा, आनंददायक।
१३) मार्जनी	:	शुद्धता, सजावट, क्षमा।
१४) क्षिति	:	मुआफी, विनाशकारी।
१५) रक्ता	:	लाल, उत्तेजक, रंगीन।
१६) संदीपनी	:	उत्तेजना, जलाना।
१७) आलापिनी	:	बोलना, बातचीत।
१८) मदन्ती	:	हवस, बहार, नशा।
१९) रोहिणी	:	युवती, गड़गड़ाहट, विकासशील।
२०) रम्या	:	रात्रि, प्यार, खुशी, आराम, शांत।
२१) उग्रा	:	तेज़, भावुक, ज़ालिम, भयंकर।
२२) क्षोभिणी	:	डाँवाडोल, उकसाहट।

प्रस्तुत तालिका से विदीत होता है, कि प्रत्येक श्रुति का नाम निश्चित भाव विशेष का वहन करता है। संभवतः प्राचीन विद्वानों ने श्रुतिओं के माध्यम से सूक्ष्म भावों की उपलब्धी मानी होगी और इसी कारण उन भावों के तरफ संकेत करने वाले नाम श्रुतिओं को दिए होंगें।

अपनी गायकी में रस-तत्त्व के प्रति अत्याधिक सजग रहने वाले, उसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानने वाले संगीतमार्तंड पंडित ओमकारनाथ ठाकुर का श्रुति संबंधी कथन है : "जो स्वरों की शुद्धाशुद्ध अथवा विकृत-अविकृत अवस्था का कारण हो, जो स्वरों के उच्च अंतर को मापने के परिमाण या मापदण्ड हो, जो स्पष्टतया प्रयुक्त होने पर स्वर कहलाती हो और उसकी विपर्यस्त यानि अपयुक्त अवस्था में श्रुति कहलाती है, जो स्वर से भिन्न होकर भी अभिन्न हो, एवं गमकादि प्रयोग विशेष में गुप्त रूप में रसाभिव्यक्ति का कारण हो, ऐसे अनुरणनात्मक और अनुरंजक नाद को श्रुति कहते हैं।[१९]

स्वर तथा राग का सौन्दर्य श्रुति पर आधारित माना गया है। श्रुति को स्वर, स्वर को राग तथा राग को रस में परिणित करके सौन्दर्य उजागर किया जाता है।[२०]

'श्रुति' को 'निरपेक्षो रवः' कहा गया है। अर्थात्, वह किसी पर निर्भर नहीं है। बल्कि संगीत का अगला घटक स्वर उस पर निर्भर है।[२१]

३.२.३ : स्वर :-

“स्वयं राजन्ते इति स्वराः। ”

– पतंजलि।

अर्थात्, जो स्वयं दीप्तिमान हो, सुशोभित हो, वह ‘स्वर’ है।

“स्वयंमात्मानं रन्जयति निपातनात्स्वर-निरुक्तिः।”

– नान्यदेव, ‘सरस्वती हृदयलंकार / भरतभाष्यम।

अर्थात्, जो स्वयं ही राजित एवं शोभित हो, वही ‘स्वर’ है।

“स्वयं जो राजते नादः स्वरः सः परिकीर्ततः। ”

– पार्श्वदेव।

अर्थात्, जो नाद स्वयं शोभित हो, वही ‘स्वर’ है। (यहाँ स्वर का ‘नाद’ होना स्पष्ट किया गया है।)

“राग जनको ध्वनिः स्वर इति। ”

– मतंग।

अर्थात्, जिसमें राग उत्पन्न करने की शक्ति, क्षमता हो, वही ‘स्वर’ है। ”

“श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽ नुरणनात्मकः।
स्वतोरन्जयति श्रोतृचित्तं स स्वर उच्च्यते। । ”

– सारंगदेव, संगीत रत्नाकर।

अर्थात्, श्रुतिओं के अन्तर पर उत्पन्न होने वाली, स्निग्ध, अनुरणात्मक ध्वनि, जो श्रोता के लिए रंजक हो, वह ‘स्वर’ है।

"श्रुत्यनन्तरभावित्वं यस्यानुरणनात्मकः।
स्निग्धश्च रंजकश्चासौ स्वर इतिभिधियते।
स्वयं जो राजते नादः स स्वर परिकीर्तित। । "

– दामोदर, संगीत दर्पण।

अर्थात्, श्रुतिओं के अन्तर पर उत्पन्न होने वाली गूंजदार व मधुर ध्वनि जो स्वतः रंजक भी हो, 'स्वर' है।

अभिनवगुप्त का कथन है, कि "'श्रुति' में रहने वाला सतत् धर्म ही स्वर है।" अर्थात्, 'श्रुति' में सातत्य, स्थिरता उसे 'स्वर' में परिवर्तित करती है। कोहल ने स्वर की परिभाषा में 'आत्मेच्छया' शब्द का प्रयोग किया है, जो महत्त्वपूर्ण है। उनका तात्त्पर्य है, कि स्वर स्वतः उत्पन्न होना चाहिए, स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होना चाहिए; कठिन प्रयत्नों से, विकृत भाव-भंगिमा के साथ नहीं। 'आत्मेच्छया' का अर्थ यह भी है, कि स्वर का नियंत्रण मस्तिष्क नहीं, बल्कि आत्मा (मन) करे। आत्मा या मन से निकला हुआ स्वर ही सच्चा स्वर होता है।

"रज्जकं स्वर संदर्भो गीतमित्यभिधीयते। "

– कल्लिनाथ।

अर्थात्, प्रीतिकर स्वर-संदर्भ 'गीत' है।

भारतीय शास्त्रों में परब्रह्म से 'ॐ'कार की उत्पत्ति बताई गई है। 'ॐ'कार के दो पहलू हैं : वर्णात्मक एवं ध्वन्यात्मक। ध्वन्यात्मक पहलू ही नाद है, जिसे रंजक-रूप में 'स्वर' कहा गया है। [२२]

ज्ञात है, कि मुख्य स्वर सात (७) है : १) षड्ज २) ऋषभ ३) गांधार ४) मध्यम ५) पंचम ६) धैवत ७) निषाद। इन्हें व्यवहार में 'सा, रे, ग, म, प, ध, नि' नाम से उपयुक्त किया जाता है।

स्वरों की उत्पत्ति के समय से ही उपरोक्त स्वर-संख्या एवं नाम निश्चित नहीं किये गए थे। कालक्रम से उनका यह स्वरुप स्थापित हुआ, जो वर्तमान समय में भी मान्य है। स्वरों के नाम के अर्थ या निरुक्ति के कारण को लेकर विभिन्न विद्वानों द्वारा भिन्न-भिन्न मत प्राचीन ग्रंथों में दर्शाये गए हैं।

'संगीत समय सार' ग्रंथ में स्वरों के नाम की निरुक्ति को लेकर इस प्रकार वर्णन किया गया है :

१) नासा, कंठ, उर, तालु, जिह्वा, और दन्त - इन छः स्थानों से उत्पन्न होने के कारण 'षड्ज' कहा गया है।

२) नाभि से उठी हुई वायु कंठ और मस्तिष्क से टकराकर वृषभ के समान आवाज़ करती है, अतः उसे 'ऋषभ' कहा गया है।

३) नाभि से उठी हुई वायु कंठ और शिर से टकराकर पवित्र गंध लिए हरती है (आभास कराती है), जो गन्धर्वों के सुख का कारण होने से 'गांधार' कहा गया है।

४) नाभि से उठी हुई वायु हृदय से टकराकर नाभि स्थान में मध्यवर्ती होती है, अतः मध्य स्थान से उत्पन्न होने के कारण 'मध्यम' कहा गया है।

५) यही (नाभि स्थित) वायु वक्ष, सिर, हृदय, कंठ से टकराकर इन पाँच स्थानों से स्वर के साथ प्रकट होती है, अतः 'पंचम' कहा गया है।

६) पूर्व स्वरों को जोड़ने वाला 'धैवत' कहा गया है।

७) सब स्वरों की समाप्ति करने वाला 'निषाद' कहा गया है।

मतंग मुनि के अनुसार स्वर-नाम-नियुक्ति का विवरण इस प्रकार है :

१) छः स्वरों का जनक होने के कारण तथा छः अंगों से उत्पन्न 'षड्ज' कहा गया है।

२) वृषभ के समान पौरुषमय होने के कारण 'ऋषभ' कहा गया है।

३) गौओं के लिए आकर्षक होने के कारण 'गांधार' कहा गया है।

४) सात स्वरों के मध्य होने के कारण 'मध्यम' कहा गया है।

५) पाँच स्थानों से उत्पन्न होने के कारण 'पंचम' कहा गया है।

६) पूर्व के स्वरों का अनुसंधान करने वाला 'धैवत' कहा गया है।

७) सभी स्वरों की समाप्ति वाला 'निषाद' कहा गया है।

प्राचीन भारतीय संगीत विद्वानों का मंतव्य रहा है, कि स्वरों की उत्पत्ति विभिन्न पशु-पक्षीओं के कंठ की ध्वनि का अनुकरण करके हुई है।

मतंगकृत 'बृहद्देशी' में कोहल को उद्धृत करते हुए कहा गया है :

"षडजं मयूरो वदति चातको ऋषभं तथा।
अजौ विरौति गान्धारं क्रौन्चः क्वणति मध्यमम्। ।
पुष्प साधारणे काले पिकः कूजति पंचमम्।
अश्वश्च धैवतं चैव निषादं च गजस्तथा। ।"

अर्थात्, मयूर षड्ज बोलता है, चातक ऋषभ बोलता है, बकरी गांधार का नाद निकालती है, चकोर माध्यम में पुकारता है, (बसंत में) कोकिला पंचम में कुहुकती है, अश्व धैवत स्वर में हिनहिनाता है और गज निषाद स्वर निकालता है।

इस सिद्धांत से पंडित ओमकारनाथ ठाकुर ने सहमति प्रकट की है। उनका कथन है, कि ध्यान से सुना जाए तो पशु-पक्षीओं के कंठ-ध्वनि में विभिन्न तारत्त्व

पाया जाता है। उन्होंने अपने कथन के समर्थन में डार्विन, गिब्बन, रेवरेण्ड लॉकउड, इत्यादि (पाश्चात्य) विद्वानों के मंतव्य प्रकट किये हैं, जिनका सार यही है, कि पशु-पक्षी विभिन्न तारत्त्व पर ध्वनि निकालने के लिए सक्षम हैं।

डॉ. यशपाल शर्मा के अनुसार यह भी संभव है, कि तारत्त्व के कारण नहीं, परंतु प्रकृति-स्वभाव के साम्य के अनुसार स्वरों का पशु-पक्षीओं से संबंध बताया गया हो। उदाहरण स्वरुप, षड्ज की ध्वनि की शांति, स्निग्धता एवं कोमलता के कारण उसका संबंध मयूर से बताया गया। इसी प्रकार प्रत्येक स्वर की एक विशिष्ट प्रकृति के दर्शन के लिए विभिन्न पशु-पक्षीओं से उसे संबंधित किया गया होगा, यह मानना तर्क संगत है, ऐसा उनका मत है।[२३]

कुछ अन्य विद्वानों ने पशु-पक्षीओं से स्वरों का संबंध इस प्रकार बताया है :

१) षड्ज - मयूर।

२) ऋषभ - चातक / गाय।

३) गांधार - बकरी / भैंसा।

४) मध्यम - चकोर / कौवा।

५) पंचम - कोकिला।

६) धैवत - अश्व / मेढ़क।

७) निषाद - गज।[२४]

प्राचीन आचार्यों ने अनुसंधान किया है और रस तथा स्वर के मध्य भी निश्चित संबंध बताया है। उन्होंने कौन-से स्वर किस रस के पोषक हैं, उसका विश्लेषण दिया है। किस स्वर का आधार-स्वर के रूप में प्रयोग करने से कौन-सा रस उजागर होता है, उस पर विस्तृत चर्चा की गई है। 'संगीत पारिजात' में पंडित अहोबल ने २२

श्रुतिओं की जाति तय करके, स्वर में उपयुक्त श्रुति की जाति के अनुसार उसका रस निर्धारित किया है।[२५]

रस-सिद्धांत के सर्वप्रथम संकलनकर्ता, व्याख्याता, विवेचक भरतमुनि ने विभिन्न रस के साथ विभिन्न स्वरों का संबंध माना है। उनके मतानुसार,

"मध्यमपंचमभूमिष्ठं हास्यश्रुंगारयोर्भवेत्।
षड्जर्षभप्रायकृतं वीररौद्राद्भुतेषु च।।
गान्धार सप्तमप्रायं करुणो गानमिष्यते।
तथा धैवत भूयिष्ठं विभत्से सभयानके।।"

- 'नाट्यशास्त्र'।

"हास्यश्रुङ्गारयोः कार्यो स्वरौ मध्यमपञ्चमौ।
षड्जर्षभौ तथा चैव वीररौद्राद्भुतेषु तु। ।
गान्धारश्च निषादश्च कर्तव्यौ करुणे रसे।
धैवतश्चैव कर्तव्यो बीभत्से सभयानके। । "

- 'नाट्यशास्त्र'।

अर्थात्, षड्ज और ऋषभ स्वर वीर, अद्भुत एवं रौद्र रस के पोषक हैं; गांधार और निषाद करुण रस के पोषक हैं; मध्यम और पंचम श्रुंगार और एवं हास्य रस के पोषक हैं तथा धैवत बीभत्स एवं भयानक रस का पोषक है।[२६]

इसे अधिक स्पष्ट रूप से इस प्रकार दर्शाया जा सकता है :

	स्वर		पोषक रस
१)	षड्ज	-	वीर, अद्भुत, रौद्र।
२)	ऋषभ	-	वीर, अद्भुत, रौद्र।
३)	गांधार	-	करुण।

४) मध्यम - श्रृंगार, हास्य।

५) पंचम - श्रृंगार, हास्य।

६) धैवत - बीभत्स, भयानक।

७) निषाद - करुण।

प्रश्न यह उपस्थित होता है, कि क्या एक ही स्वर किसी रस-विशेष की उत्पत्ति के लिए सक्षम है ? संभव है, कि मात्र एक स्वर से रस-सृष्टि हो सके ? संभवतः नहीं। इस प्रश्न का समाधान भरतमुनि के कथन से ही प्राप्य है।

भरत के अनुसार, "जिस जाति का अंश स्वर जिस रस का पोषक हो, उस रस के परितोष के लिए नाट्य में उसी जाति का गान किया जाना चाहिए।"[२७]

'जाति' प्राचीन कालीन संज्ञा है, जो भरत तथा समकालीन विद्वानों ने वर्तमान 'राग' के स्वरुप में प्रयुक्त की थी। प्राचीन समय में 'राग' को 'जाति' कहा जाता था। जाति में प्रयुक्त होने वाले स्वरों में से मुख्य स्वर को 'अंश-स्वर' कहा जाता था। उसका स्थान वर्तमान राग-गायन के वादी स्वर के समान माना जाता था। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के २९वें अध्याय में जाति के अंश-स्वर के मुताबिक उसका रस के साथ संबंध दर्शाया है। उनका मत है, कि जाति के अंश-स्वर का जिस रस से संबंध है, वह रस उस जाति-विशेष से उजागर होता है। तद्अनुसार,

- 'सा' और 'रे' अंशस्वर हो, उस जाति से वीर, अद्‌भुत और रौद्र रस की निष्पत्ति होती है।
- 'ग' और 'नि' अंश स्वर हो, उस जाति से करुण रस की निष्पत्ति होती है।
- 'म' और 'प' अंश स्वर हो, उस जाति से श्रृंगार और हास्य रस की निष्पत्ति होती है।

- ‘ध’ अंश स्वर हो, उस जाति से बीभत्स और भयानक रस की निष्पत्ति होती है।[२८]

उल्लेखनीय है, कि भरतमुनि ने मूलभूत रस आठ माने थे - श्रृंगार, हास्य, वीर, अद्‌भुत, रौद्र, करुण, बीभत्स तथा भयानक। परवर्ती आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा शांत रस को भी स्वतंत्र रस कर रूप में मान्यता प्राप्त हुई, परिणाम स्वरुप वर्तमान समय में भी ‘नौ रस सिद्धांत’ प्रचलित है। क्योंकि भरतमुनि ने शांत को स्वतंत्र रस ही नहीं माना था, उन्होंने किसी स्वर से उसका संबंध भी नहीं बताया है। उन्होंने शांत रस को छोड़कर अन्य आठ रस के साथ सात स्वरों का संबंध स्पष्ट किया है।

नारदमुनि ने भी अपने ग्रंथ ‘संगीत मकरन्द’ में प्रत्येक स्वर के निश्चित रस बताये हैं। इनका स्वर-रस संबंध सिद्धांत भरतमुनि के सिद्धांत से भिन्न है। उनके अनुसार,

- ‘सा’ से अद्‌भुत एवं वीर रस की निष्पत्ति होती है।
- ‘रे’ से रौद्र रस की निष्पत्ति होती है।
- ‘ग’ से शांत रस की निष्पत्ति होती है।
- ‘म’ से हास्य रस की निष्पत्ति होती है।
- ‘प’ से श्रृंगार रस की निष्पत्ति होती है।
- ‘ध’ से बीभत्स रस की निष्पत्ति होती है।
- ‘नि’ से करुण रस की निष्पत्ति होती है।

विदीत होता है, कि नारदमुनि ने किसी भी स्वर के साथ भयानक रस का संबंध नहीं बताया है।

मतंगमुनि रचित ग्रंथ ‘बृहद्देशी’ तथा सारंगदेव रचित ग्रंथ ‘संगीत रत्नाकर’ पर दृष्टि करने से ज्ञात होता है, कि उनके स्वर-रस सिद्धांत में साम्य था। तद्‌अनुसार,

- ‘सा’ और ‘रे’ वीर, रौद्र तथा अद्‌भुत रस प्रधान हैं।
- ‘ग’ और ‘नि’ करुण रस प्रधान हैं।
- ‘म’ और ‘प’ हास्य तथा श्रुंगार रस प्रधान हैं।
- ‘ध’ भयानक तथा बीभत्स रस प्रधान है।

विदीत होता है, कि मतंगमुनि तथा सारंगदेव ने भरतमुनि के स्वर-रस सिद्धांत का समर्थन किया है। ‘संगीत रत्नाकर’ में लिखा है,

> “सरोवीरेऽद्‌भ्रुते रौद्रे धो बीभत्से भयानके
> कायो ग नी तु करुणे हास्यश्रुंगारयोरपि।”

सिंहभूपाल ने अपनी ‘सुधाकर टीका’ में इसे अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है,

> षड्जर्षभौ वीराद्भ्रुतरौद्रेषुः धैवतो बीभत्स भयानकयोः
> गांधार निषादौ करुणे मध्यम पंचमों हास्य श्रुंगारयोरिति।”

स्पष्ट होता है, कि अत्याधिक प्राचीन विद्वानों ने इस संदर्भ में भरत का समर्थन ही किया है।[२९]

आधुनिक समय में पंडित विष्णुनारायण भातखंडे जी द्वारा स्वर और रस का संबंध बताया गया है। उनका मत भरतमुनि के मत से भिन्न है, परंतु एक साम्य है। जिस प्रकार भरतमुनि ने स्वरों के आधार पर जाति और रस का संबंध प्रस्थापित करना चाहा, उसी प्रकार भातखंडे जी ने भी स्वरों के आधार पर राग और रस का संबंध प्रस्थापित करने का प्रयास किया है। तद्अनुसार,

- ‘रे’-‘ध’ वाले रागों से करुण, शांत तथा उनके अंतर्भूत (आंतरिक) रस की निष्पत्ति होती है।
- ‘रे’-‘ध’ वाले रागों से श्रुंगार, हास्य तथा उनके अंतर्भूत (आंतरिक) रस की निष्पत्ति होती है।

- 'ग'-'नि' वाले रागों से वीर, रौद्र तथा भयानक रस की निष्पत्ति होती है।[३०]

विदीत होता है, कि पंडित भातखंडे जी के उपरोक्त वर्गीकरण में अद्‌भुत एवं बीभत्स रस को स्थान नहीं दिया गया। उन्होंने किसी भी स्वर से अद्‌भुत एवं बीभत्स रस का संबंध नहीं बताया है। उनके वर्गीकरण में विकृत स्वरों का भी स्थान है।

आचार्य कैलाश चन्द्रदेव बृहस्पति ने अपने पुस्तक 'भरत का संगीत सिद्धांत' में लिखा है, "गायक स्वररसन्निवेश के द्वारा जिन भावों की अभिव्यक्ति करता है, वे 'साधारण्य' एवं 'प्राणीमात्र हृदयसंवाद' के कारण 'सावधान' श्रोताओं की, रजस्तमोनिर्मित रागद्वेषरूप ग्रंथियों को विगलित करके उनके हृदय में उस चेतना का अनुभव कर देते हैं, जिसे 'रस' कहा जाता है।" उन्होंने अभिनय की तरह स्वरों को भी भाव-प्रस्तुति का माध्यम माना है। उन्होंने भरत के सिद्धांत की परिपुष्टि करते हुए लिखा है, कि स्वर-सन्निवेश से रस-निष्पत्ति में स्थायी भाव का 'आलंबन विभाव' अंश-स्वर (स्थायी, वादी स्वर) होता है, उसका संवादी स्वर 'उद्दीपन विभाव' होता है, अनुवादी स्वर 'अनुभाव का कार्य करते हैं - 'स्थायीभाव' को उभारते हैं तथा सञ्चारी (विवादी) स्वर 'सञ्चारी भावों' को प्रदर्शित करते हैं। अतः, स्थायीभाव पर आलंबित, उसके संवादी स्वर द्वारा उद्दीप्त, अनुवादी स्वरों द्वारा अनुभावित और सञ्चारी स्वरों द्वारा परिपोषित, सहृदयों की वह चेतना-विशेष 'रस' है, जिसकी अनुभूति के समय रजस्तमोगुण-जनित उनकी रागद्वेषादि ग्रंथियां विगलित हो जाती हैं। बृहस्पति जी का कथन है, कि स्वर स्थायी (अंश) होने पर ही रस का प्रकाशक बनता है, अन्यथा उसके द्वारा अभिव्यक्त भाव 'सञ्चारी' होता है। उन्होंने जाति-प्रयोग एवं राग-प्रयोग में रसाभिव्यंजक स्वर स्थायी स्वर को मानते हुए बताया है, कि स्थायी स्वर परिवर्तित होने पर एक ही जाति भिन्न-भिन्न रस उजागर करती है। उन्होंने निजी अनुभव के तौर पर यह बताया है, कि मध्यम स्थायी (वादी) राग संयोग-श्रुंगार तथा पंचम स्थायी (वादी) राग विप्रलंभ-श्रुंगार रस के पोषक होते हैं।[३१]

डॉ. प्रेमलता शर्मा का मंतव्य है, कि भरत मुनि की व्यवस्था में स्वर रस के मुताबिक लिये गए होंगें। रस का स्वरुप तो पहले से ही स्पष्ट है, उसके अनुसार अनुकूल स्वरों का विनियोग किया जाता होगा।[३२]

प्राचीन समय में विकृत स्वरों का प्रचलन नहीं था, जो समयांतर से हुआ। अतः कुछ आधुनिक विद्वानों ने शुद्ध के उपरांत विकृत स्वरों से रस का संबंध स्पष्ट करने का प्रयास किया। पंडित भातखंडे जी के उपरांत पंडित गोविन्द राम टेम्बे ने भी अपने पुस्तक 'Raga and Rasa - Aspects of Indian Music' में आधुनिक १२ स्वरों का रस से संबंध, उनका स्वभाव दर्शाया है। तद्अनुसार,

- षड्ज अपरिवर्तनीय, एकाग्रचित्त योगीरूप है।
- कोमल ऋषभ की स्थिति पूर्ण जागृतावस्था जैसी है।
- शुद्ध ऋषभ तेजस्वी है।
- कोमल गांधार करुणावस्था का है।
- शुद्ध गांधार की स्थिति एक चंचल बालक समान प्रसन्नतापूर्ण है।
- शुद्ध मध्यम की स्थिति गंभीर और शक्तिशाली है।
- तीव्र मध्यम भावुकतापूर्ण और चपलतापूर्ण है।
- पंचम आत्मविश्वासी और प्रसन्न है।
- कोमल धैवत गहरी उदासी को व्यक्त करता है।
- शुद्ध धैवत हृष्ट-पुष्ट वीर पुरुष के समान है।
- कोमल निषाद नम्र, प्रसन्न और स्नेही है, साथ में वीरता, कारुण्य के लिए भी सहायक है।
- शुद्ध निषाद तीक्षणता प्रधान है, इसमें तार षड्ज से मिलने की तीव्र इच्छा स्पष्ट होती है।[३३]

रस तत्त्व की अभिव्यक्ति के लिए प्राचीन से लेकर आधुनिक काल तक के विद्वानों ने एक माध्यम के रूप में, भाषा के रूप में स्वर को भी माना है। भारतीय संगीत में स्वर से राग और राग से रस का निर्माण माना गया है। स्वर राग के लिए स्थिर, स्पष्ट, श्रुति-मधुर, अनुरणात्मक अंग-प्रत्यंग है, उनके बिना राग का अस्तित्त्व ही संभव नहीं। स्वर के लगाव के ढंग से तथा अल्पत्त्व-बहुत्त्व, अंश-न्यास, इत्यादि से राग का स्वरुप परिवर्तित हो जाता है।

स्वर की प्रकृति को स्त्री या पुरुष लिंग से नहीं जोड़ा गया है। निश्चित स्वर एवं स्वर-संगति विभिन्न रसोत्पत्ति का आधार है। भारतीय संगीत में प्राचीन काल से स्वरों के कुछ निश्चित लक्षण माने गए हैं, जो किसी मनुष्य के गुणों की तरह दृश्यमान होता है। उस गुण-निर्धारण में कुछ मत-मतांतर भी शामिल है। स्वर के वर्ण (रंग) की कल्पना भारत में प्राचीन समय से होती आई है। आधुनिक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने भी इसका समर्थन किया है।

'संगीत रत्नाकर' के स्वरगताध्याय में आचार्य सारंगदेव ने लिखा है,

"आत्मा विवक्षमाणो ऽयं मनः प्रेरयते मनः।
देहस्य वह्निमाहन्ति स प्रेरयति मरुतम्।।
ब्रह्मग्रन्थिस्थितः सो ऽथ क्रमादूर्ध्वपते चरन्।
नाभिहृत्कंठमूर्धास्थेष्वाविर्भावयति ध्वनिम्।।"

अर्थात्, जब आत्मा को बोलने की इच्छा होती है, तब वह मन को प्रेरित करता है; मन देहस्थ अग्नि को प्रेरणा देता है; अग्नि वायु का चलन करती है; तब ब्रह्मग्रंथिस्थि वायु क्रमशः उपर चढ़ती हुई नाभि, हृदय, कंठ, मूर्धा और मुख - इन स्थानों से पाँच प्रकार के नाद (ध्वनि) उत्पन्न करती है। इन नादों का संबंध स्वर से है और स्वरों की सहायता से भाव तथा रस की उत्पत्ति होती है।[३४]

पंडित ओमकारनाथ ठाकुर ने कहा है,

“मैं जानता हूँ कि सप्तस्वरों, सात रंगों की ग्रंथस्थ कथा, कुछ नवीन विचारधारा वालों ने हँसी में टाल दी थी और कपोलकल्पित मान लिया था। आज विज्ञान ने सिद्ध किया है, कि जिस प्रकार सूर्य की रश्मियों में सात रंग है, तद्अनुसार सात स्वरों के भी सात रंग हैं। प्रेम, भक्ति, रति, श्रृंगार, चाहे जो नाम दें, परंतु वह संवेदना भुतमात्र का स्वभाव है, जीवों का जीवन धर्म है, प्राणी मात्र की सहज प्रेरणा है। हृदय की संवेदनाएँ भाषा से नहीं परंतु स्वर द्वारा ही व्यक्त की जाती है।”

उस्ताद बड़े गुलाम अली खाँ कहा करते थे, कि “सच्चे स्वर में इश्वर का वास होता है।”[३५]

स्वर की महत्ता, उसका स्थान स्पष्ट करने के लिए उपरोक्त महानुभावों के कथन पर्याप्त है।

पंडित प्रवीण शेवीलकर जी का कथन है, कि “स्वरों की intensity राग के हिसाब से बदलती रहनी चाहिए। एक समान होने पर उसका प्रभाव कम हो जाता है।” तात्पर्य यह है, कि राग के विशिष्ट भाव, रस का आधार उसके स्वरों पर ही है।[३६]

३.२.४ : राग :-

"यथा वर्णादृते चित्रं न शोभोत्पादन भवेत्।
एवमेव विना गानं नाट्यं रागं न गच्छति।।"

- 'नाट्यशास्त्र'।

अर्थात्, जिस प्रकार कोई चित्र बिना रंगों के शोभायमान नहीं होता, उसी प्रकार संगीत के बिना नाटक के स्वरुप में कोई राग - रंजकता - नहीं आती। विदीत है, कि भरतमुनि ने रंजकता के लिए 'राग' संज्ञा प्रयुक्त की थी।

"योऽयं ध्वनि विशेषस्तु स्वर वर्ण विभूषितः।
रंजको जन चित्तांनां स राग कथितो बुधैः।।"

- महाराणा कुम्भा, 'संगीत दर्पण'।

अर्थात्, स्वर तथा वर्ण से विभूषित ध्वनि, जो मनुष्य-मन का रंजन करे, उसे 'राग' कहा जाता है।

"विचित्र वर्णालंकारों विशेषे यो ध्वनिरिह।
ग्रहादि स्वर संदर्भो रंजको राग उच्यते।।"

- 'संगीत राज'।

अर्थात्, जिस ध्वनि या स्वरावलि में वर्ण, अलंकारों का वैचित्र्यपूर्ण प्रयोग हो, जिसमें ग्रहादि स्वरों का संदर्भ हो तथा जो रंजक हो, वह 'राग' है।

'राग' की सर्वप्रथम सुव्यवस्थित एवं प्रामाणिक परिभाषा ७वीं शताब्दि में मतंगकृत 'बृहद्देशी' में मिलती है :

"स्वर वर्ण विशेषेण ध्वनिभेदेन वा पुनः।
रज्यते येन सः कश्चित स राग संमतः सताम्।।"

- मतंग, 'बृहद्देशी'।

अर्थात्, जिसमें विशिष्ट स्वर, वर्ण तथा ध्वनिभेद द्वारा मनुष्य के चित्त का रंजन करने का सामर्थ्य हो, उसे ही 'राग' कहा जाता है।

"रंजकः स्वरसन्दर्भो राग इत्यभिधीयते।"

- 'संगीत पारिजात'।

अर्थात्, मनुष्य के चित्त का रंजन करनेवाले स्वर-समुदाय को 'राग' कहा जाता है।

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है, कि नाट्यशास्त्र में 'राग' संज्ञा का प्रयोग 'रंजक' अर्थ में हुआ था, वर्तमान 'राग' के संदर्भ में नहीं। (उस समय 'जाति' शब्द प्रचलित था।) परवर्ती ग्रंथों में कई विद्वानों द्वारा दी गई व्याख्याएँ 'राग' संज्ञा को वर्तमान संदर्भ की ओर, उससे करीब परिभाषित करती विदीत होती है। संभवतः 'राग' शब्द का अर्थ रंजकता था और कालक्रम से विद्वानों ने उसे ही सांगीतिक संज्ञा के रूप में स्वीकार किया, क्योंकि उसमें रंजकता निहित थी। अतः 'राग' संज्ञा अपने आप में ही रंजकत्त्व की उपस्थिति की बोधक है, ऐसा कहना उचित है।

भारतीय संगीत में श्रुति से स्वर, स्वर से राग और राग से रस की परिणति मानी गई है। अतः ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा, कि रस से निकटतम मक़ाम राग है। 'राग' के कई शाब्दिक अर्थ है, जैसे कि वर्ण (रंग), प्रेम, स्नेह, हर्ष, आनंद, माधुर्य, संगीत, इत्यादि। उसकी उत्पत्ति संस्कृत धातु 'रंज' से हुई है, जिसका अर्थ है रंजक वस्तु। राग आनंदप्रद है। वे सिर्फ़ भारतीय संगीत में ही है। वे भारतीय संगीत की आत्मा है। भारतीय शास्त्रीय संगीत में रागों की महत्ता के कारण उसे 'राग संगीत' भी कहा जाता है। मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिए राग सटीक माध्यम है।[३७]

भारतीय राग संगीत 'विविधता में एकात्मकता' एवं 'एकात्मकता में विविधता' का उत्कृष्ट द्रष्टांत है। भारतीय संगीत का वैशिष्ट्य हरेक राग में समान है परंतु रागों की परस्पर भिन्नता वैविध्य बनाए रखती है। राग के स्वर, स्वरुप निश्चित होने के बावजूद भी उसमें प्रत्येक कलाकार को मौलिक प्रस्तुति का अवकाश है। इसी कारण राग - संगीत इतना अधिक विस्तृत हो पाया है, क्योंकि वह बँधा हुआ - fixed - नहीं है। एक ही राग एक ही कलाकार द्वारा प्रस्तुत करने पर अलग-अलग समय पर एक समान न रहकर उसमें कुछ नावीन्य आता है, तब भिन्न-भिन्न कलाकारों से एक ही राग की प्रस्तुति में तो भिन्नता और वैविध्य का प्रश्न ही नहीं है ! और महत्त्वपूर्ण बात यह है, कि वैविध्य की चरमसीमा के बावजूद भी राग का स्वरुप निश्चित है, राग वही है, राग बदल नहीं जाता। यही राग-संगीत की विशेषता है, उसकी ताक़त है, उसका प्रभाव एवं सौन्दर्य है। प्रत्येक राग के कुछ नियम हैं, जिनके दायरे में रहकर कलाकार स्वतंत्र है। राग अपने आप में 'मर्यादा के साथ स्वतंत्रता' सिद्धांत का समर्थन करता है, जो तात्त्विक दृष्टि से भी काफ़ी सराहनीय, औचित्यपूर्ण माना जाता है।

प्राचीन काल से ही भारतीय संगीत शास्त्र में राग और रस का संबंध बताया गया है। कौनसा राग किस रस का पोषक है, वह लिखा गया है।

भरतमुनि ने जाति और रस का संबंध आलेखित किया है - जो कि आधुनिक राग के समान थीं। उन्होंने जाति का अंश स्वर जिससे संबंधित हो, उस रस को समग्र जाति का रस माना है। निश्चित रस-विशेष की परिपूर्ति के लिए निश्चित जाति का प्रयोग बताया है।[३८]

भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में के २९वें अध्याय में जाति और रस का संबंध दर्शाया है, जो इस प्रकार है :

- 'सा' और 'रे' अंश स्वर हो, वह जाति 'वीर', 'अद्‌भुत' एवं 'रौद्र' रस की पोषक है।

- ‘ग’ और ‘नि’ अंश स्वर हो, वह जाति ‘करुण’ रस की पोषक है।
- ‘म’ और ‘प’ अंश स्वर हो, वह जाति ‘श्रुंगार’ एवं ‘हास्य’ रस की पोषक है।
- ‘ध’ अंश स्वर हो, वह जाति ‘बीभत्स’ एवं ‘भयानक’ रस की पोषक है।

उनकी १८ जाति के रस इस प्रकार बताये गए हैं :

	जाति	रस
१)	षड्जोदीच्यवती	श्रुंगार, हास्य
२)	षड्जमध्या	श्रुंगार, हास्य
३)	आर्षभी	वीर, अद्भुत, रौद्र
४)	षाडवी	वीर, अद्भुत, रौद्र
५)	षड्जकैशिकी	करुण
६)	धैवती	बीभत्स, भयानक
७)	गान्धारी	करुण
८)	रसगान्धार	करुण
९)	मध्यमा	श्रुंगार, हास्य
१०)	पंचमी	श्रुंगार, हास्य
११)	नन्दयन्ती	श्रुंगार, हास्य
१२)	मध्यमोदीच्यवा	वीर, अद्भुत, रौद्र
१३)	गान्धारोदीच्यवा	वीर, अद्भुत, रौद्र
१४)	कार्माखी	वीर, अद्भुत, रौद्र
१५)	आन्ध्र	वीर, अद्भुत, रौद्र
१६)	कैशिकी	बीभत्स, भयानक

१७) गांधार पंचमी बीभत्स, भयानक, श्रुंगार, हास्य

१८) नैषादी करुण[३९]

'संगीत रत्नाकर', 'बृहद्देशी' इत्यादि ग्रंथों में भी निश्चित राग के निश्चित रस बताये गए हैं।[४०]

आधुनिक समय में पंडित भातखंडे जी ने अपने पुस्तक 'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति' में प्रयुक्त स्वरों के अनुसार रागों के तीन वर्ग निश्चित किये हैं। इन वर्गों के साथ उन्होंने उन रागों से कौनसे रस निष्पन्न हो सकते हैं, वह भी बताया है। उनके अनुसार,

- 'रे॒'-'ध॒' वाले राग करुण, शांत तथा उनके आंतरिक रसों के पोषक हैं।
- 'रे'-'ध' वाले राग श्रुंगार, हास्य तथा उनके आंतरिक रसों के पोषक हैं।
- 'ग॒'-'नि॒' वाले राग वीर, रौद्र तथा भयानक रसों के पोषक हैं।[४१]

विदीत होता है, कि भातखंडे जी ने किसी भी राग से अद्‌भुत एवं बीभत्स रस का संबंध नहीं बताया है।

उपरोक्त वर्गीकरण से कुछ प्रश्न उपस्थित होते हैं, जैसे, राग जयजयवंती रस श्रुंगार मानना चाहिए या वीर ? अतः कुछ विद्वानों ने रागों के इस प्रकार वर्ग न बनाते हुए उनका रस वैयक्तिक स्तर पर मानना उचित समझा है। जैसे, तोड़ी, जोगिया, पीलु का करुण; मधुवंती, रागेश्री का श्रुंगार; शंकरा का वीर; भुपाली, भीमपलासी का शांत; भैरव, भैरवी का भक्ति; इत्यादि।

श्रुति को स्वर, स्वर को राग तथा राग को रस में परिणित किया जाता है, जो कि विभिन्न मनोभावों की अभिव्यक्ति है।

राग रस के लिए विभाव का कार्य करता है। अन्य घटकों की तरह राग भी रस-निष्पत्ति में आलंबन या उद्दीपन विभाव सिद्ध होते हैं। कई बार ऐसा होता है, कि शास्त्रोक्त नियमों के अनुसार राग-प्रस्तुति उत्कृष्ट हो, बंदिश, स्वर-समूह, लय, ताल सब कुछ सही हो; फिर भी राग एक बुद्धि-प्रधान प्रदर्शन बनकर रह जाता है, यदि उसमें अंतःकरण से उत्पन्न भाव, रस का समावेशन न हो। रस ही राग की ज्योति, उसका प्राण है। रस के बिना राग निष्प्राण, शुष्क है। रंजकता राग-वृक्ष का फल है। प्राचीन विद्वानों ने राग की उत्पत्ति, रचना तभी की थी, जब उनका हृदय रसयुक्त था। हृदय स-रस होने पर राग की निर्मिति हुई और राग बनने पर उसका लक्ष्य रस-उत्पत्ति माना गया। अतः राग और रस का संबंध वृक्ष एवं बीज का, परस्परावलंबी है। प्राचीन संगीतज्ञों द्वारा ऐसे राग नियमों की रचना हुई, जो कि रस उत्पन्न करने में सक्षम हो। प्रत्येक राग का स्वरुप परस्पर भिन्न है, जिससे विभिन्न भाव एवं रस की निष्पत्ति होती है। रागों का रस वैविध्य उनमें प्रयुक्त स्वर एवं उनके चलन पर निर्भर है।

डॉ. प्रेमलता नागराजन का कथन है, कि 'बृहद्देशी' या 'संगीत रत्नाकर' में ऐसा उल्लेख है, कि कौनसे राग का प्रयोग नाट्य के किस रस में करना चाहिए। इसमें ऐसा नहीं कहा गया है, कि किसी राग से किसी रस-विशेष की उत्पत्ति होती है। इस सूक्ष्म भेद रेखा पर गौर से विचार करने पर ऐसा लगता है, कि प्राचीन समय के शास्त्र के अनुसार राग रस का उद्दीपन विभाव हो सकता है, पर आलंबन विभाव नहीं। अथवा एक कारण यह भी हो सकता है, कि उस समय राग (जाति) आदि संगीत का प्रयोग ही नाट्य के लिए होता था, अतः राग संगीत की स्वतंत्र चर्चा करना ही आवश्यक न लगा हो। उल्लेखनीय है, कि मध्यकालीन तथा आधुनिक नाट्य-स्वरुप जैसे कि भागवतमेलानाटक, नौकाचरितम् (१९वीं और २०वीं शताब्दि), फ़िल्में (२०वीं शताब्दि), इत्यादि में भी निश्चित राग का निश्चित रस विशेष के लिए प्रयोग करने की परंपरा रही है। मध्यकाल में जब संगीत सिर्फ़ नाट्य का अंग न रहते हुए स्वतंत्र कला

के रूप में स्वीकृत हुआ, तब भी 'संगीत-दर्पण' जैसे (मध्यकालीन) ग्रंथ में राग से रस का संबंध तो बताया ही गया है। इससे विदीत होता है, कि राग का संबंध स्वतंत्र रूप से भी रस से है, चाहे वह नाट्य से संलग्न हो, या न हो।[४२]

आधुनिक समय में पंडित गोविंद राम टेम्बे जैसे विद्वान ने रंजकता और रसमयता को समानार्थी माना है। उन्होंने स्वर की निश्चित प्रकृति बताई तथा राग से निष्पन्न रस का संबंध केवल उसके स्वर एवं स्वरावली से बताया।

पंडित भातखंडे के राग-रस संबंधी मत में द्विधा, संदिग्धता पाई जाती है। उन्होंने बताया है, कि राग से रस का प्रत्यक्ष, स्पष्ट संबंध स्थापित करना अत्यंत दुष्कर है। रस-निर्मिति के लिए उन्होंने राग के स्वरों उपरांत गाने की शैली, उपयुक्त कंठस्वर, उच्चारण, लय, शब्द तथा कुछ हद तक हाव-भाव को भी महत्त्वपूर्ण माना है। उनके अनुसार भारतीय राग संगीत में मौलिकता के कारण प्रस्तुति में हमेशा परस्पर तफ़ावत होता है। श्रोतागण की मनःस्थिति में सदैव साम्य हो, वह भी संभव नहीं। अतः राग-रस के विषय में निश्चित, निर्णयात्मक रूप से कुछ कहना कठिन है। लेकिन अपने इस कथन के बावजूद भी उन्होंने अपने स्वरों के मुताबिक बनाए गए रागों के तीन वर्ग के रस बताए हैं। अपनी पुस्तक 'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति' (मराठी, भाग ४, पृष्ठ ८) में उन्होंने एक नवीन बात प्रस्तुत की है। किसी अन्य विद्वान (जिनका नाम उन्होंने नहीं लिखा) द्वारा किये गए कथन "मुख्य रस श्रृंगार, वीर तथा करुण ही हैं, अन्य को इनके अंतर्भूत रस मानना चाहिए" का उन्होंने समर्थन किया है। संभवतः उन्होंने रागों में भी इन्हीं तीन रसों का स्थान अधिकांश माना है। जहाँ तक राग-संगीत की, केवल गायन एवं वादन की बात है, तो उसमें कई वर्तमान संगीतज्ञों का इस मत से समर्थन है, ऐसा विदीत होता है।

उल्लेखनीय है, कि राग का संबंध रस से है, इतना ही नहीं, अपितु राग ही स्वयंमेव रस है, ऐसा अनेक विद्वानों का मत है।[४३]

प्राचीन काल में राग (जाति) का रस निश्चित हुआ करता था। आधुनिक - वर्तमान - काल में इस संदर्भ में कई मतभेद है, विचार धाराएँ हैं :

१) राग का रस निश्चित है :

राग के निश्चित समय, ऋतु, ग्रह, अंश, न्यास, अपन्यास, सन्यास, विन्यास, बहुत्त्व, अल्पत्त्व, पर्यायांशत्त्व, मींड, गमक, आंदोलन, रागांगदर्शन, स्वर-उच्चारण, कण, स्थानभेद, उचित लय-ताल, इत्यादि का सदैव पालन करने पर हरेक प्रस्तुति में राग से निश्चित, समान रस-निष्पत्ति होती है। इन नियमों का पालन प्राचीन काल में अनिवार्य रूप से होता था, संभवतः इसी कारण राग प्रमाणबद्ध और निश्चित रस का पोषक होता था।

२) एक ही राग में अनेक रस हैं :

संगीत कला में जनता, रसिकगण की रूचि के अनुसार समय के साथ परिवर्तन आते रहे। संभवतः व्यक्ति स्वातंत्र्य के नाते कलाकारों द्वारा प्राचीन राग-नियमों का पालन सख्ती से करना कम होने लगा। कलाकारों ने श्रोतागण की पसंद ध्यान में रखते हुए एक ही राग में भिन्न-भिन्न रस को उजागर करने वाले साहित्य की बंदिशें रची होगी। ये रचनाएँ भी पारंपारिक हैं, अतः उन पर शक करना सर्वथा उचित नहीं है। परंतु बंदिशें एवं बढ़त के रूप में आये परिवर्तन से (प्राचीन काल से विपरीत) एक ही राग अनेक रस के पोषक बने हैं।

३) एक ही राग में अनेक रस निर्माण हो सकते हैं :

राग में रस निर्माण करना कुछ हद तक कलाकार के वश में है। किसी रस-विशेष के पोषक राग में अपनी क्षमता के अनुसार लय, शब्द, इत्यादि से अन्य रस की निर्मिति भी कलाकार कर सकता है। राग के मूल रस को न भूलते हुए

भी पृथक-पृथक स्वर-संगतिओं से, लयकारी, शब्दों से अन्य रस, अन्य अनुरूप रसों का भी आस्वादन करवाया जा सकता है।

४) राग से रस का कुछ संबंध नहीं है, वह काव्यात्मक विषय है :

कुछ विद्वानों ने रस को सांगीतिक तत्त्व न मानते हुए केवल साहित्य से उसका संबंध माना है। उनका मत है, कि बंदिश के शब्द से ही रस निर्मिति होती है। परंतु इस कथन का समर्थन करने का अर्थ यह होता है, कि वाद्य-संगीत में रस नहीं है। गायन या नर्तन की शब्द रहित कृति में रस नहीं है। वास्तव में संगीत के मूलभूत माध्यम स्वर, लय को शब्द से सूक्ष्म एवं भावाभिव्यक्ति में उत्कृष्ट माना गया है। उपरांत, संगीत कला में शब्द को अनिवार्य नहीं माना गया, परंतु एक ललित कला के रूप में स्वीकार्य संगीत भाव एवं रस की अभिव्यक्ति करने सक्षम है, यह तो स्पष्ट है। अतः अत्याधिक विद्वानों द्वारा इस मत को मान्यता नहीं मिल पाई है।

५) राग का मन पर जो प्रभाव होता है, उसे 'नाद मोह' कहते हैं, (रसानुभव नहीं); जो अवर्णनीय है :

राग के प्रभाव को कुछ विद्वानों ने पुष्प की सुगंध की भाँति माना है। उनका आनंद अवर्णनीय है, परंतु उनका रस से संबंध नहीं माना गया। निश्चित रस के साथ उसे संबंधित माना जाए, उतना वह स्पष्ट नहीं है। अतः राग के परिणाम, प्रभाव को 'नाद मोह' कहा गया है।[४४]

राग-रस संबंध में रागों की प्रकृति महत्त्वपूर्ण है। रागों को अक्सर गंभीर तथा चंचल - दो प्रकृति में विभाजित किया जाता है। हरेक प्रकृति से प्रत्येक रस उत्पन्न होना संभव नहीं है।[४५]

राग और रस के संबंध के संदर्भ में रागों का समय भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण पहलू है। रागों के समय निश्चित किये गए हैं, वे प्रकृति तथा मन - दोनों की उस प्रहर या ऋतु की प्राकृतिक एवं मानसिक स्थिति के अनुकूल है। रागों को उनके शास्त्रोक्त समय पर प्रस्तुत किया जाए, तो उनका स्वरूप अत्याधिक निखरता है, तथा रसाभिव्यक्ति भी अधिकतम हो सकती है। बाह्य वातावरण का प्रभाव कलाकार तथा रसिक दोनों की मनःस्थिति, भाव-जगत पर होता है। अतः उसी वातावरण से संबंधित राग का प्रस्तुतीकरण मनोभावों को समर्थन देगा, ऐसा कहना तर्कपूर्ण है। भारतीय ऋतुओं की रसमयी प्रकृति ने यहाँ की कलाओं को प्रभावित किया है, जिसमें संगीत भी समाविष्ट है। समयानुसार रागों की प्रस्तुति करने का नियम केवल भारतीय संगीत में विद्यमान है। समय-निर्धारण के नियम को कुछ कलाकारों ने नहीं भी माना, परंतु अधिकांश विद्वानों द्वारा दृढ़तापूर्वक माना गया, कि राग-समय का पालन करने पर उसका प्रभाव अत्याधिक बढ़ता है, वह उस समय के अनुरूप होने से रस-निष्पत्ति की दृष्टि से उसका अनुसरण करना उत्कृष्ट है। पारंपारिक कलाकारों का मत है, कि असमय आह्वान करने से राग-रागिणी (जो कि भारतीय संगीत में देवी-देवताओं के रूप में कल्पित हैं) अप्रसन्न होते हैं और समयानुकूल आह्वान करने से वे प्रसन्न होकर गायक / वादक को अद्भुत रंजक शक्ति प्रदान करते हैं।

समय निर्धारण कि सर्वप्रथम चर्चा नारदकृत 'संगीत मकरंद' ग्रंथ में मिलती है। इसमें 'अद्भुत रामायण' के एक प्रसंग का समावेशन किया गया है। देवर्षि नारद, जो कि स्वयं संगीत के प्रखर विद्वान थे, उनको एक बार अपने ज्ञान पर घमंड हो गया। उन्होंने राग-रागिनीयों का नियम विरुद्ध, असमय गान किया। इस क्रिया से राग-रागिनीयाँ, जो कि स्त्री-पुरुष के रूप में थे, अपने स्वरूप खोकर अंग-विहीन हो गए। देवर्षि नारद को अपनी भूल का एहसास हुआ, उन्होंने क्षमा-याचना कि। उसके पश्चात भगवान शिव ने उन्हें गाकर ठीक किया। समयानुसार प्रस्तुति न होने से राग का स्वरूप बिगड़ जाने की बात इस कथा में रोचक ढंग से प्रतिपादित की गई है।

इसी प्रसंग का वर्णन करते हुए संगीतज्ञ नारदमुनि ने अपने ग्रंथ 'संगीत मकरंद' में लिखा है :

"रागबेला प्रगानेन रागाणां हिंसको भवेत्।
यः श्रुणोति सदारिद्री आयुर्नश्यति सर्वदा।।
देवता विषये गीतं पुण्यनाम प्रवर्धनम्।
आध्यात्मिकेन योगेन सर्वपापं प्रणाशनम्।।"

अर्थात्, जो संगीतज्ञ रागों को असमय गाता-बजाता है और जो व्यक्ति रागों को असमय सुनता है, वह न केवल राग की सुन्दरता नष्ट करता है, बल्कि अपना जीवन भी नष्ट करता है।

पंडित अहोबल ने अपने ग्रंथ 'संगीत पारिजात' में लिखा है, कि "असमय राग गाने से दोष उत्पन्न होता है।"

भारत में प्रहर एवं ऋतुओं का प्रभाव इतना तीव्र है तथा यहाँ के पारंपारिक संगीत में राग नियमों का इस तरह से अनुसरण किया जाता है, कि भारतीय कलाकार को असमय राग गाना-बजाना स्वाभाविक नहीं लगता। ग्रीष्म ऋतु की भीषण तपती दोपहर में बसंत राग गाने की कल्पना भी अजीब-सी लगती है।

महाराणा कुम्भा ने अपने ग्रंथ 'संगीत राज' में प्रहरों की तुलना दिन के घंटों के उपरांत ऋतुओं से भी की है। इनकी तुलना तर्कपूर्ण एवं वास्तव आधारित है। यदि ग्रीष्म में भी बसंत राग गाना ही हो (शिक्षा इत्यादि हेतु), तो उसे उषाकाल या रात्रि के शीतल वातावरण में गाना सराहनीय होगा।

मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति धारा ने प्रहर-उपासना में समय के अनुसार रागों का उपयोग किया है। आधुनिक समय में पुष्टि मार्गीय संगीत में रस संबंधी नियमों का सघनतापूर्वक पालन किया जाता है। उसमें रागों के निश्चित रस बताये गए हैं तथा शास्त्रोक्त प्रहर एवं ऋतु के अनुसार उनका प्रयोग किया जाता है।

आधुनिक विद्वान पंडित भातखंडे ने भी स्वीकार किया है, कि “राग अपने नियत समय पर गाये जाने पर ही अधिक शोभनीय होता है।”

“यथाकाले समारब्धं गीतं भवति रज्जकम्।
अतः स्वरस्य नियमात् रागेऽपि नियमः कृतः।।”

- ‘भातखंडे संगीत शास्त्र’।

अर्थात्, योग्य (अनुकूल) समय पर प्रस्तुत किया गया संगीत रंजक बनता है, अतः स्वर के नियमों के आधार पर रागों के भी नियम बनाये गए हैं।[४६]

यह स्पष्ट है, कि रागों से रस एवं भाव की अधिकतम अभिव्यक्ति समयानुकूल प्रस्तुति से ही होती है। भैरव का अंतर्भूत प्रभाव रात्रि में या मालकौंस का प्रभाव प्रातःकाल में निश्चित रूप से चरमसीमा पर नहीं जा सकता, यह अनुभवसिद्ध है। संगीत की सफल अभिव्यक्ति के लिए जितना महत्त्व राग के स्वरों के चलन, लय, ताल, बंदिश, इत्यादि का है, उतना ही, बल्कि उससे भी अधिक महत्त्व उसके प्रयोगकाल का है।[४७]

प्राचीन समय में मंदिरों में आराधना के रूप में राग-संगीत प्रस्तुत होता था, वह भी प्रहर, समय के अनुसार हुआ करता था। तब घड़ी इत्यादि उपकरण की अनुपस्थिति के कारण प्रायः प्रकृति ही समय-निर्धारण का साधन होती थी, जिसमें यह राग-संगीत ओर एक समय-सूचक क्रिया बन जाता था।

स्वरों का किसी लिंग - स्त्रीलिंग या पुल्लिंग - से ताल्लुक नहीं बताया गया, पर रागों का इससे विपरीत है। रागों की कल्पना प्राचीन समय से ही पुरुष-राग एवं स्त्री-रागिणी के रूप में की गई है। राग-वर्गीकरण की पद्धतियों में राग-रागिणी वर्गीकरण को सर्वप्रथम माना जाता है। इस पद्धति में मुख्य राग को पुरुष के रूप में तथा उसके समप्रकृतिक रागों को उनकी पत्नीओं के रूप में माना गया। प्रत्येक पत्नी के

पुत्र और पुत्रवधुओं के रूप में भी राग एवं रागिणी - दो भिन्न लिंग कल्पना कायम की गई। इस प्रकार मुख्य रागों के परिवार के रूप में सारे रागों का वर्गीकरण किया गया। राग में गांभीर्य, परिपक्वता एवं ओज है, रागिणी में कोमलता, सुकुमारता, नारी-सुलभ चंचलता है। स्वाभाविक रूप से पुरुष एवं स्त्री प्रकृति भिन्न-भिन्न रसों के पोषक हैं। वर्तमान समय में राग-वर्गीकरण की पद्धतियों में राग-थाट पद्धति तथा राग-रागांग पद्धति प्रचलित हैं। इनमें रागों के लिंग के संदर्भ में कोई उल्लेख नहीं होता, स्वर-साम्यता तथा स्वरूप-साम्यता के आधार पर रागों को वर्गीकृत किया जाता है। परंतु वैयक्तिक रूप से रागों के स्त्रैण या पौरुषी स्वभाव को अभी भी माना जाता है। पौरुषत्त्व को गंभीर एवं स्त्रैणत्त्व को चंचल प्रकृति से संलग्न माना गया है। दरबारी कानड़ा या मालकौंस जैसे गंभीर प्रकृति के राग को पौरुषत्त्व प्रधान माना गया है। मधुवंती या रागेश्री जैसे (तुलनात्मक दृष्टि से) चंचल राग को स्त्रैणत्त्व प्रधान माना गया है। स्वाभाविक रूप से दोनों प्रकृति के राग भिन्न-भिन्न रसों के पोषक हैं। उल्लेखनीय है, कि स्त्रैणत्त्व या पौरुषत्त्व का तात्पर्य गुण से है, स्त्री या पुरुष से नहीं। दोनों गुण दोनों जाति के मनुष्य में भिन्न-भिन्न प्रमाण में मौजूद होते ही हैं, ऐसा ही राग के संदर्भ में भी है। कुछ राग ऐसे भी हैं, जिनमें किसी एक गुण का प्रभुत्त्व नहीं है, दोनों का ही प्रमाण समान रूप से दृष्टिगोचर होता है। ऐसे राग स्वाभाविक रूप से अधिक रसों के पोषक हो सकते हैं, जिनमें लावण्य और जोम - दोनों समान रूप से विद्यमान हैं। ऐसे रागों में जयजयवंती, बागेश्री, यमन, बिहाग, इत्यादि को समाविष्ट किया जा सकता है।

कुछ रागों के नाम उनके स्वभाव, प्रकृति को स्पष्ट करते हैं। 'भैरव' शिव का निर्देश करता है, 'बसंत' बसंत ऋतु का, 'मेघ' वर्षा ऋतु का, 'बागेश्री' सरस्वती का, 'रागेश्री' लक्ष्मी का, 'गौरी' पार्वती या गौरांग कन्या का, 'दुर्गा' माँ दुर्गा का, 'पहाड़ी' पहाड़ों का, 'मधुवंती' माधुर्य का, इत्यादि। संभव है, कि प्रत्येक राग के नाम का अपभ्रंश हुआ हो, या भाषाएँ बदली हो, इसलिए प्रत्येक के अर्थ आज प्राप्य न हो।

पंडित नित्यानंद हल्दीपूर के अनुसार, कुछ रागों के नाम निकटवर्ती राग के नाम से पड़े। गौड़ी एक राग था, उसके जैसा अन्य राग 'गौड़ी-सा-रंग' कहलाया, जो कालक्रम से अपभ्रंश से 'गौड़सारंग' हो गया।[४८]

भारतीय संगीत में राग-रागिणीओं को दैवी तत्त्व कि तरह मानकर उनकी उपासना की गई है। प्राचीन काल से 'राग-ध्यान' कि परंपरा रही है। 'ध्यान' का अर्थ है 'चित्त में इष्ट का तदाकार करना'। राग के स्वरूप, प्रकृति, लाक्षणिकता की मानसिक अनुभूति, चिंतन करना 'राग-ध्यान' कहा गया है। प्राचीन काल में 'राग-ध्यान' के लिए संस्कृत भाषा में रागों के लक्षणों का वर्णन करने वाले श्लोक रचे गए। मध्यकाल में राग-ध्यान के लिए प्राकृत या हिन्दी इत्यादि भाषाओं में दोहों की रचना भी हुई। 'राग-ध्यान' के श्लोक सर्वप्रथम 'बृहद्देशी' में वर्णित हैं। तत्पश्चात् 'संगीत राज', 'राग विबोध', 'राग तरंगिणी', 'संगीत दर्पण', 'संगीत पारिजात', (इब्राहिम आदिल शाह कृत) किताबे नौरस', इत्यादि ग्रंथों में भी 'राग-ध्यान' का साहित्य है। उल्लेखनीय है, कि पंडित श्रीनिवास तथा पंडित हृदयनारायण देव द्वारा 'राग-ध्यान' का उल्लेख नहीं हुआ - न तो उनकी संगतता के पक्ष में, न ही असंगतता के पक्ष में। पंडित भातखंडे ने ध्यान पद्धति को उपयुक्त नहीं माना।

वास्तव में राग-ध्यान के श्लोक राग-लक्षणों को, उनके व्यक्तित्त्व को साहित्य - काव्य कला के माध्यम से स्पष्ट करने का, प्रस्तुत करने का, कायम करने का प्रयास था। इसका दृष्टांत इस प्रकार है :

"भैरव श्वेतवर्णः स्यादेकवस्त्रोष्ट हस्तभाक्
वृषयानः कृत्तिवासाः कल भैरवरूपस्मृता।
सर्प त्रिशूल खट्वाङ्गजपमालभिरन्वितैः
वीणापाश फलाब्जैश्च पाणिभिर्भूषितोह्म्म।।"

\- 'संगीत राज'।

अर्थात्, भैरव श्वेत वर्ण एक वस्त्री है, ओंठ तथा हस्त रूप सभर हैं। गजचर्म को धारण करने वाले शिव काल भैरव नाम से जाने जाते है। उन्होंने सर्प, त्रिशूल, खट्वांग, जपमाल, इत्यादि धारण किया है। हाथ में वीणा, पाश, फल तथा कमल शोभायमान हैं।

विदीत होता है, कि 'राग-ध्यान' राग-रस कि अनुभूति के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा होगा। संभवतः यही उसका उद्देश्य रहा होगा। जिस प्रकार राग-स्वरूप का साहित्य कला के माध्यम से निरूपण 'राग-ध्यान' बना, उसी प्रकार चित्र कला के माध्यम से 'राग-माला चित्र' बना। चित्र कला के माध्यम से रागों के लक्षणों, प्रकृति को दृश्य-रूप में अंकित करने का प्रयास किया गया, जो काफी प्रभावपूर्ण था। 'राग-माला चित्र' का प्रारंभ ग्वालियर में माना जाता है। भारत कि कई चित्र-शैलीओं में 'राग-माला चित्र' हुए, जिनमें राजस्थानी, मालवा, कांगडा, राजपूत, मुग़ल, दक्षिणी, इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

'राग-माला चित्र' में कलाकारों ने 'राग-ध्यान' तथा प्रस्तुतिओं को ध्यान में लेकर चित्र बनाने का प्रयास किया है। इन चित्रों में १७ वीं तथा १८ वीं शताब्दी में सर्वाधिक प्रगति हुई, क्योंकि इस समय में हिन्दी भाषा में 'राग-ध्यान' उपलब्ध थे। रागों के भाव, रस को मूर्त, प्रभावपूर्ण स्वरूप प्रदान करके राग-रस अनुभूति नया मार्ग बनाना इन चित्रों का योगदान है। 'Ragmala Miniature', 'India's Visible Music', इत्यादि इन चित्रों के संग्रह हैं।

इसका दृष्टांत इस प्रकार है :

राग हिंडोल की प्रकृति उल्लास पूर्ण, श्रृंगार रस प्रधान मानी गई है। उसके चित्रों में इस भाव को प्रस्तुत किया गया है। अक्सर इसके चित्रों में युगल झूले पर बिराजमान होता है। आसपास खुशनुमा प्रकृति का आलेखन होता है।

राग भैरवी की प्रकृति समर्पित, भक्ति रस प्रधान मानी गई है। उसके चित्रों में इस भाव को प्रस्तुत किया गया है। अक्सर इसके चित्रों में शक्ति (पार्वती) शिव की आराधना में लीन होती है। मंदिर जैसे भक्तिपरक स्थान का आलेखन होता है।

राग : हिंडोल

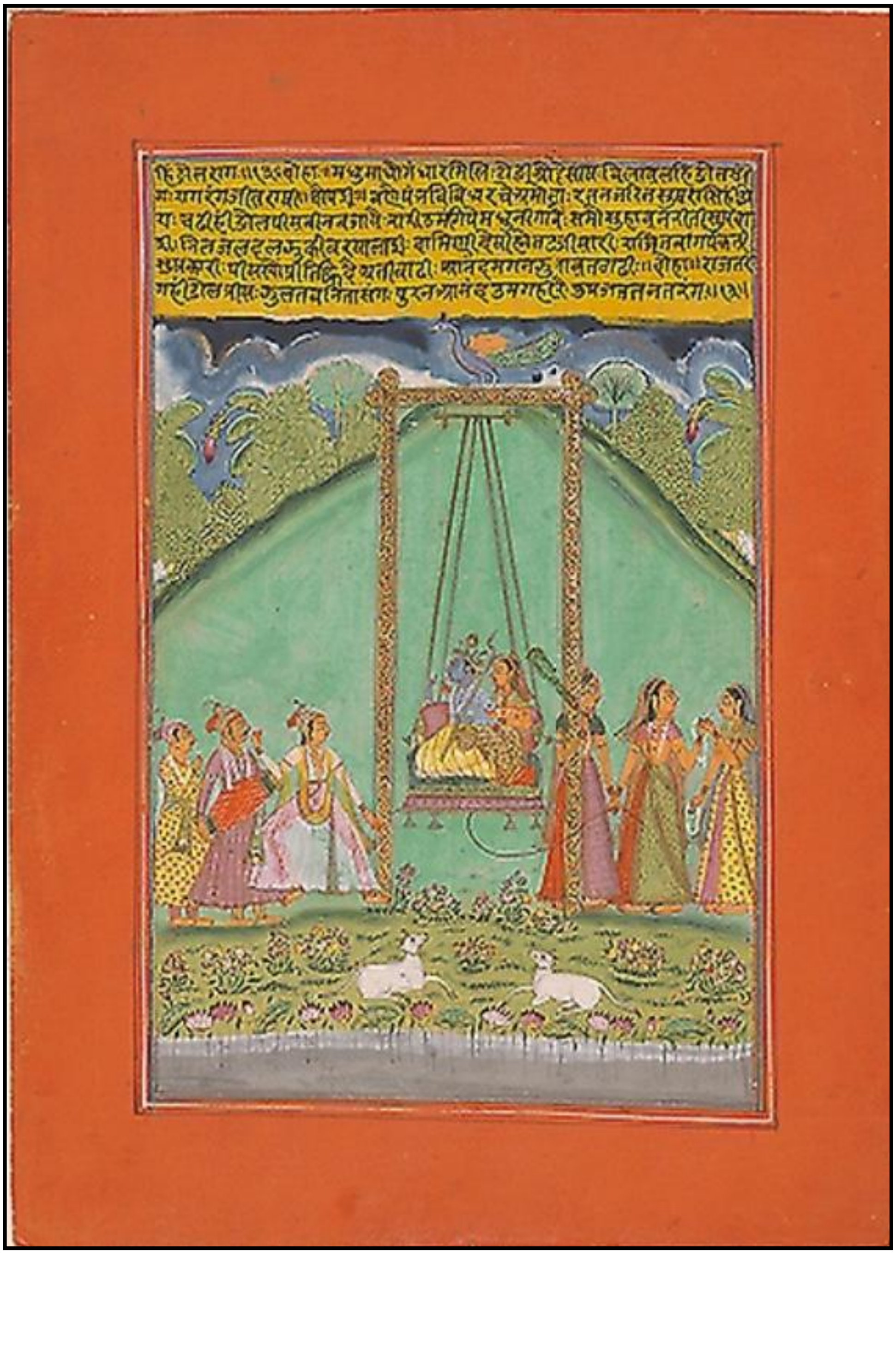

राग : हिंडोल

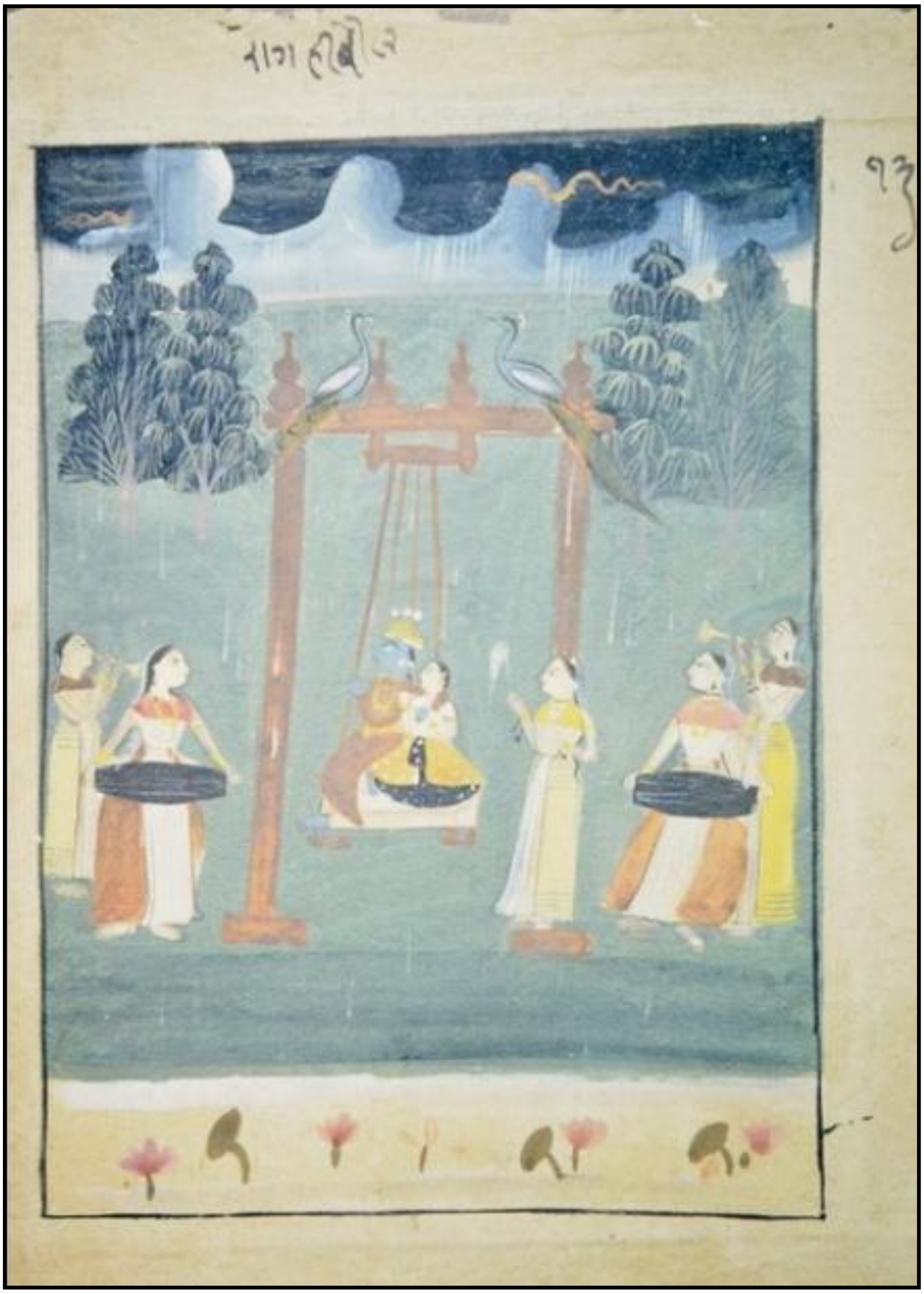

राग : हिंडोल

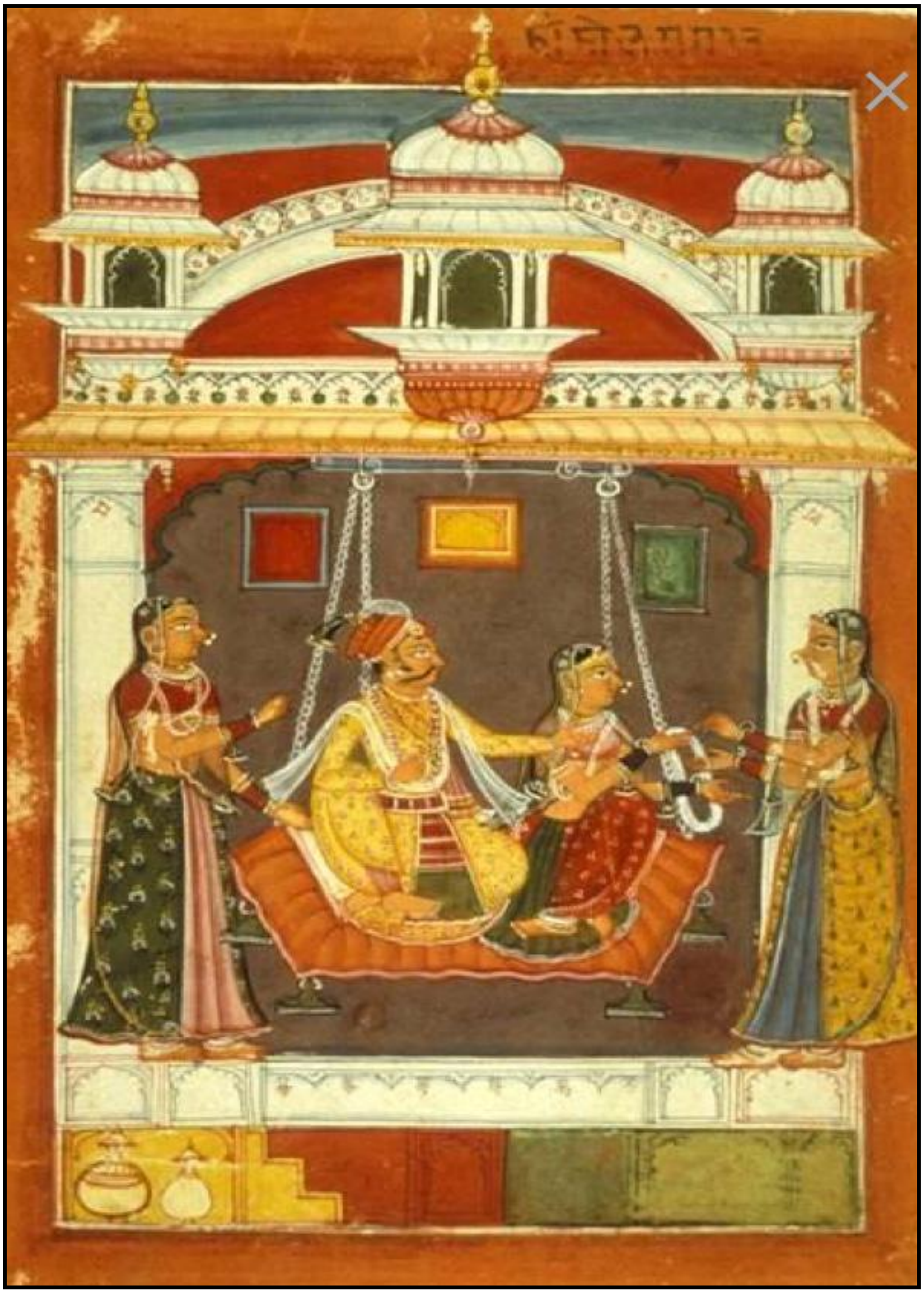

राग : भैरवी

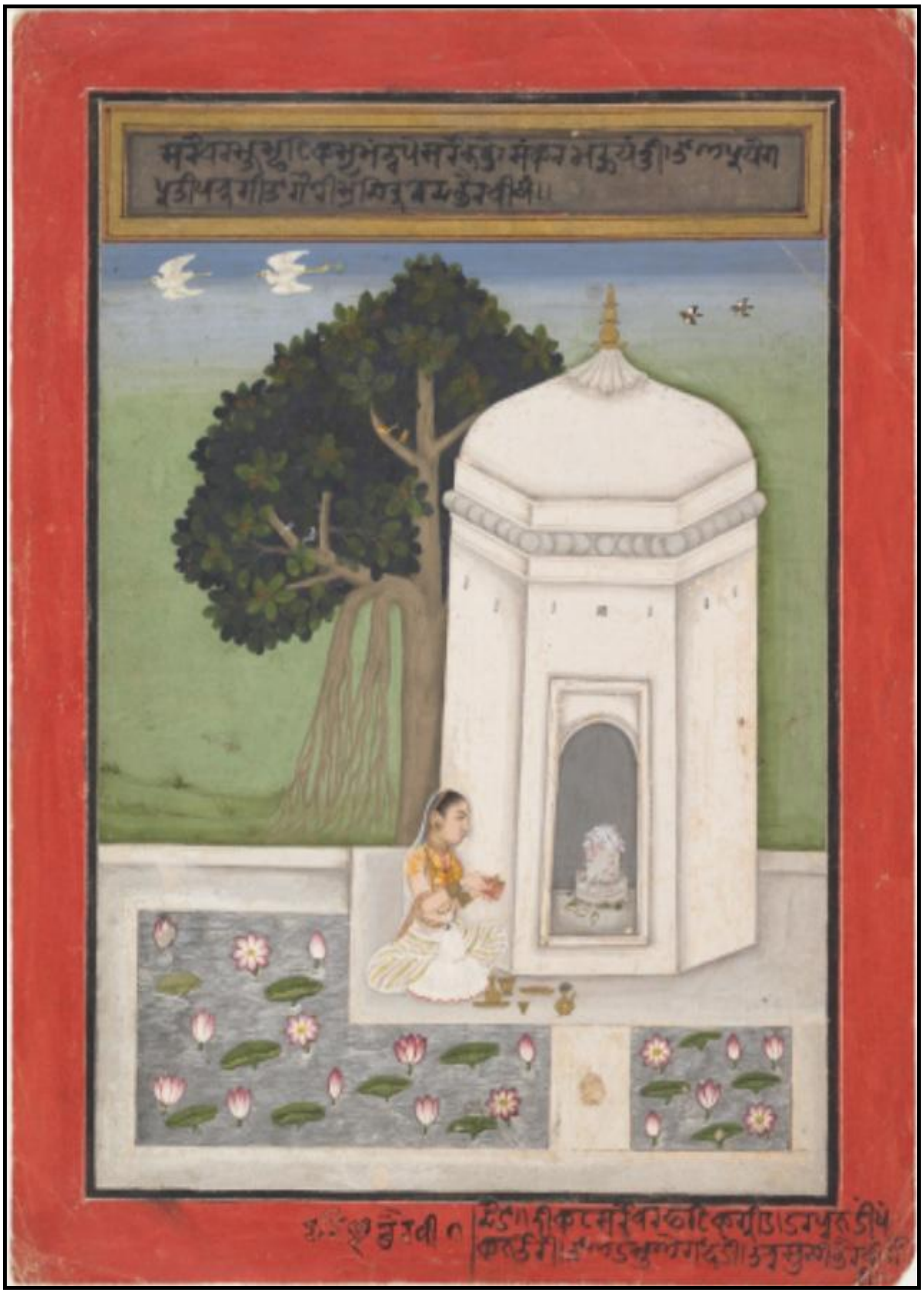

राग : भैरवी

राग : भैरवी [४९]

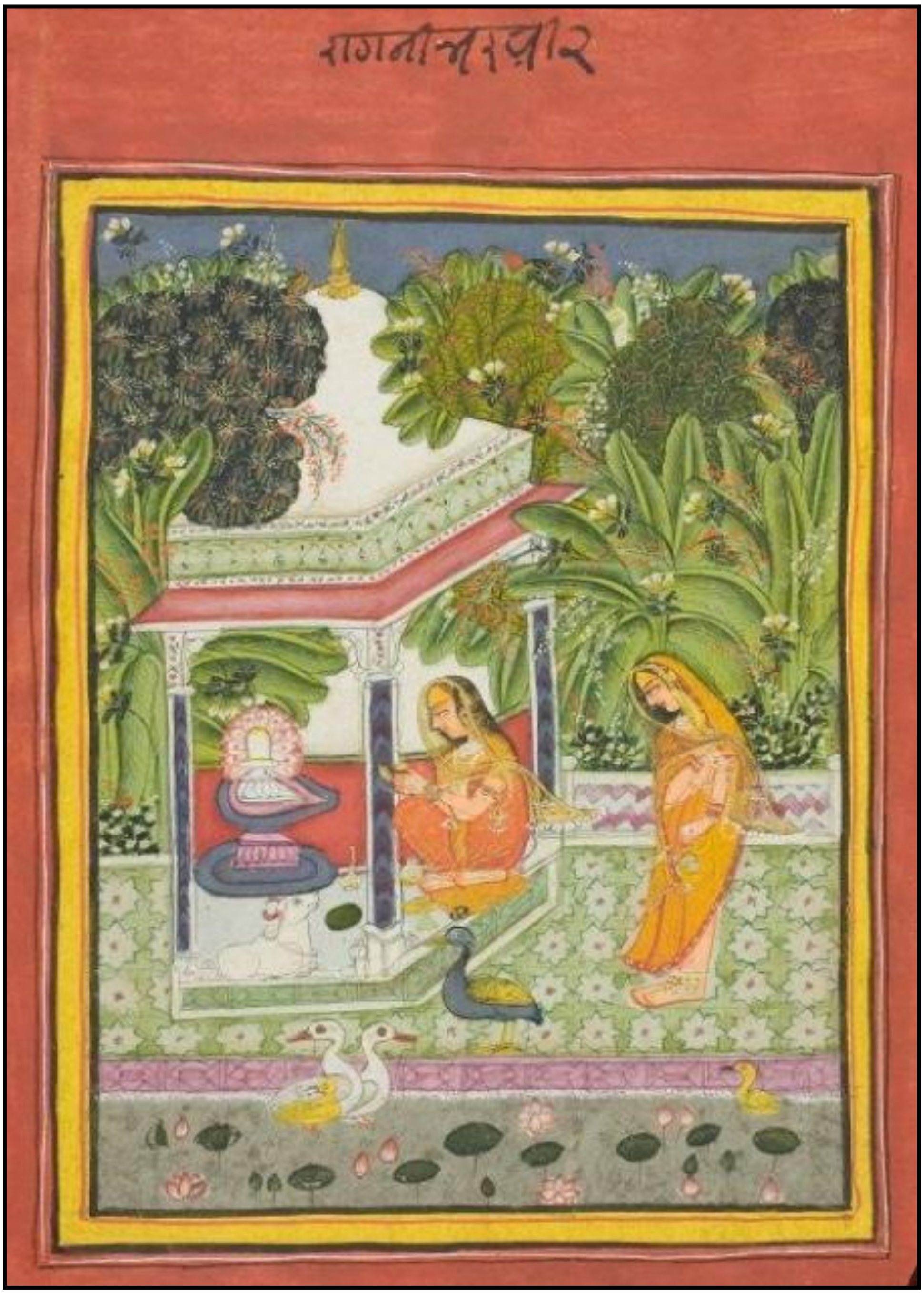

राग एक कलात्मक घटक है, जिसमें निहित सूक्ष्म भावों का वर्णन या विश्लेषण सिर्फ़ भाषा द्वारा पूर्णतः संभव नहीं हो सकता। चित्र या साहित्य जैसी कला के माध्यम से उसका अत्याधिक स्पष्ट तथा रसप्रद आलेखन संभव है।

प्राचीन शास्त्रकारों ने राग के दो स्वरूप माने हैं - नादमयी और भावमयी (या देवतामय)। स्वर पक्ष राग का नादमयी स्वरूप है तथा भाव पक्ष राग का भावमयी स्वरूप है। नादमयी रूप को राग का शरीर मानकर भावमयी (या देवतामय) रूप को उस शरीर का अधिष्ठात्री देवता अथवा उसकी आत्मा माना गया है। पंडित सोमनाथ ने अपने ग्रंथ 'राग विबोध' में कहा है,

"सुस्वरवर्ण विशेषरूपं रागस्यबोधकं द्विधा।
नादात्मकं च देवमयं तत्क्रमतोऽनेकमेकं तु।।
उक्तं रूपमनेकं तत्तद्रागस्थ नादमयमेवम्।
अथ देवतामयमिह क्रमतः कथयेतदैकैकम् रागविबोधः।।"

- 'राग विबोध'।[५०]

भावार्थ यह है, कि स्वर तथा वर्ण राग के (नादात्मक स्वरुप के) दो पहलू हैं। राग का स्वरुप नादात्मक के उपरांत देवतामय (दैवी तत्त्व युक्त) भी है।

राग का भावमयी स्वरूप, जो कि राग के रस से संलग्न है, उसमें 'राग-ध्यान' तथा 'राग-माला चित्र' का महत्त्वपूर्ण योगदान है। विशेष करके प्राचीन या मध्यकालीन समय में, जब राग को समझने या अनुभव करने के लिए उसकी प्रस्तुति के अलावा अन्य कोई मार्ग उपलब्ध नहीं थे। 'राग-ध्यान' से राग के भाव, रस पक्ष को सार्थ, स्पष्ट स्वरूप प्राप्त हुआ; तथा 'राग-माला चित्र' से उसे नयनरम्य, दृश्य स्वरूप प्राप्त हुआ ऐसा कहना उचित है। यह सत्य है, कि वर्तमान - आधुनिक समय के बदले हुए रागों के स्वरूप इन में से कई 'राग-ध्यान' या 'राग-माला चित्र' के साथ पूर्णतः मेल नहीं साध पाते।

भारतीय संगीत में राग कि जो परिकल्पना है, ठीक वैसी ही विश्व के किसी भी संगीत में उपलब्ध नहीं है। राग भारतीय संगीत कि विशिष्ट पहचान है। भारतीय संगीत का पारंपारिक सातत्य उसकी राग एवं ताल परंपरा पर निर्भर है। राग को उचित रूप से भारतीय संगीत की आत्मा कहा गया है। स्वामी प्रज्ञानंद के अनुसार, राग विषयगत मनोभावनाओं की वस्तुगत अभिव्यक्ति है। 'अभिव्यक्ति' अपने साथ स्वतंत्रता, मौलिकता का अस्तित्त्व स्पष्ट करती है, क्यों कि स्वतंत्रता, मौलिकता, रचनात्मकता के बिना अभिव्यक्ति संभव नहीं। पंडित रविशंकर के अनुसार, "राग कलाकार कि आंतरिक, गहन भावना-संवेदनाओं की अभिव्यक्ति है, जो स्वर और स्वरावली के माध्यम से बाहर आती है"।[५१]

३.२.५ : लय :-

"तालः कालक्रियायं लयः साम्यपास्त्रियाम्।"

- 'अमरकोश'।

अर्थात्, ताल में काल और क्रिया कि समानता 'लय' है।

"क्रियानान्तर विश्रांतिलयः।"

- 'संगीत रत्नाकर'।

अर्थात्, (दो) क्रिया के अंतर में स्थित विश्रांति को लय कहते हैं।

अन्य एक मतानुसार,

"गीत वाद्य पादन्यासानां क्रियाकालाय परस्परं समता लयः।"

अर्थात्, गीत और वादन में क्रिया और काल के परस्पर मिलन को 'लय' कहते हैं।

वास्तव में सामान्यतः संगीत में प्रयोग की गई गति को 'लय' कहते है।[५२]

लय संगीत में काल (समय) का रूप निर्धारित करती है, सांगीतिक क्रियाओं के अंतराल में समत्त्व, एकरूपता बनाए रखती है। लय का वैविध्य 'लयकारी' कहलाता है। संगीत से सौन्दर्य-निर्मिति करने में लय एवं लयकारी का बहुत बड़ा योगदान है। क्योंकि संगीत आहत नाद की निर्मिति है, उसमें उस नादोत्पत्ति के लिए कंपन आवश्यक है। यह कंपन तभी मधुर नाद उत्पन्न करते हैं, जब उनकी गति में नियमितता हो। गति कि नियमितता ही लय है। इस प्रकार यह कहना उचित है, कि संगीत के आधारभूत घटक नाद की उत्पत्ति में भी लय उपयुक्त है, मौजूद है; बस उसका स्वरूप अत्यंत सूक्ष्म है। ज्ञात है, कि लय के तीन प्रकार विलंबित, मध्य व द्रूत

है। स्वर तथा लय का विशिष्ट सौन्दर्य भारतीय संगीत को अन्य संगीत से भिन्न सिद्ध करता है।

स्वाभाविक रूप से ही शोक में गति मंद हो जाती है, क्रोध में तीव्र हो जाती है - यही लय एवं भाव, रस के स्वतःसिद्ध संबंध का प्रमाण है।

विभिन्न लयकारीयों से चमत्कृति, उत्तेजना एवं विश्रांति का अनुभव होता है। विभिन्न लय द्वारा विविध भावों की अभिव्यक्ति भी प्रगाढ़ होती है।

विभिन्न लय को विविध रस की पोषक माना गया है। कुछ मत-मतांतर के बावजूद, अधिकांश विद्वानों के मतानुसार,

- विलंबित लय शांत तथा करूण रस की पोषक है।
- मध्य लय श्रृंगार तथा हास्य रस की पोषक है।
- द्रूत लय वीर, रौद्र तथा अद्भुत रस की पोषक है।
- विषम लय बीभत्स तथा भयानक रस की पोषक है।[५३]

उल्लेखनीय है, कि लय किस स्वर-संगति, सप्तक, राग, ताल, शब्द, से जुड़ी है, वह भी रस-उत्पत्ति में मायने रखता है। मध्य लय सदैव श्रृंगार रस निरूपित करेगी, चाहे अन्य पहलू जो भी हो, ऐसा कथन तर्क-संगत नहीं होगा। उपरांत, यह वर्गीकरण एक मोटे तौर पर किया गया है। वास्तव में लय अति विलंबित, विलंबित, मध्य विलंबित, मध्य, मध्य द्रूत, द्रूत, अति द्रूत, इत्यादि प्रकार से प्रयुक्त होती है।

बिना उचित लय-प्रयोग के संगीत का सौन्दर्य नष्ट होता है; भाव, रस की उचित अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। प्रकृति के अनुरूप लय का प्रयोग सराहनीय है। विलंबित लय गंभीर प्रकृति की, जबकि द्रूत लय चंचल प्रकृति की द्योतक है। प्रबंध-प्रकार के अनुरूप लय होना भी आवश्यक है। ध्रुपद के लिए विलंबित लय तथा टप्पा के लिए द्रूत लय का प्रयोग इसी बात का प्रमाण है।

गायन या स्वर-वाद्य में रस-निर्मिति में लय का योगदान निश्चितरूप से महत्त्वपूर्ण है, परंतु ताल-वाद्य तथा नर्तन विधा के अंतर्गत सौन्दर्य निर्मिति एवं भाव-रस अभिव्यक्ति में लय एवं लयकारी का महत्त्व पराकाष्ठा पर है।

नर्तन कला के अंतर्गत विभिन्न पात्रों के लक्षण दर्शाये गए हैं, जिसमें लय भी महत्त्वपूर्ण लक्षण है। उत्तम पात्र के लिए विलंबित लय, मध्यम पात्र के लिए मध्य लय तथा अधम पात्र के लिए द्रूत लय को उपयुक्त माना गया है।[५४]

लय के संदर्भ में अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात यह है, कि वह समग्र ब्रह्मांड का आधार है। सूर्य तथा सभी ग्रहों, नक्षत्रों निश्चित लय में परिभ्रमण करते हैं। अगर उनमें कुछ वि-लय हो जाए, तो प्रलय निश्चित है। अंगों में रक्त-प्रवाह, श्वासोच्छवास, हृदय के धबकार, आदि कि लय निश्चित है, उनमें परिवर्तन आने से भयंकर परिणाम या सकते हैं। अतः यह कहा जा सकता है, कि लय स्वाभाविक, स्वयंभू क्रिया है। उसका अस्तित्त्व ही स्वाभाविकता एवं सौन्दर्य बनाए रखता है, उसका अस्तित्त्व न होने पर अस्वाभाविकता एवं विरूपता निर्मित होती है।

३.२.६ : ताल :-

"ताल काल क्रिया मानम्।"

- पंडित अमरसिंह, 'अमरकोश'।

अर्थात्, ताल समय नापने की क्रिया है। समय नापने का साधन है।

"तकारः शङ्करः प्रोक्तो लकारः पार्वती स्मृताः।
शिव शक्ति समायोगात ताल इत्यभिधीयते।।"

- पंडित दामोदर, 'संगीत दर्पण'।

अर्थात्, शिवजी ने तांडव से 'ता' और पार्वतीजी ने लास्य से 'ल' का स्मरण किया। परिणाम स्वरूप शिव-शक्ति के समायोग से 'ताल' शब्द बना। 'संगीतारणव' ग्रंथ में भी इसी तर्क का समर्थन किया गया है। (कि ताल की रचना शिव-शक्ति के नर्तन के मेल से हुई।)

"तालस्य प्रतिष्ठायमिता धातोस्ताले प्रतिष्ठितम्।
गीतं वाद्य तथा नृत्य यतस्ताले प्रतिष्ठितम्।।"

- पंडित सारंगदेव, 'संगीत रत्नाकर'।

अर्थात्, 'तल्' धातु - जिसका अर्थ 'आधार' है - से 'ताल' शब्द कि व्युत्पत्ति हुई है, क्योंकि गायन, वादन तथा नर्तन तीनों उस पर आधारित हैं। प्रो. प्रेमलता शर्मा ने उपरोक्त परिभाषा का विवरण इस प्रकार दिया है, कि 'तल' वह आधार है, जिस पर कुछ टिक सके। गायन-वादन-नर्तन कि प्रतिष्ठा उस पर टिकी है, अतः उसे 'ताल' कहा गया है।[५५]

सांगीतिक सौन्दर्य में ताल का महत्त्वपूर्ण योगदान है। विभिन्न मात्रा संख्या, खंड-विभाजन, वज़न के मुताबिक अनेक तालों की रचना हुई है। ताल गायन-वादन-

नर्तन की संगत में उपयुक्त तो है ही, उपरांत स्वतंत्र ताल-वादन की प्रस्तुति की जो परंपरा है, उसमें ताल का सौन्दर्य चरमसीमा पर अनुभव होता है।

ताल की उत्पत्ति को लेकर विभिन्न मत प्रवर्तमान है। एक मतानुसार उसकी उत्पत्ति शिव तथा पार्वती के नर्तन के दौरान हुई। अन्य मत ऐसा है, कि समुद्र-मंथन के दौरान जब अमृत प्राप्त हुआ, तब देवता एवं दानव आनंद से नर्तन करने लगे। उनके नर्तन से विविध तालों का आविष्कार हुआ। देवताओं के नर्तन से समगति - युग्म मात्रा - के तालों का तथा दानवों के नर्तन से विषमगति - विषम मात्रा - के तालों का आविष्कार हुआ, ऐसा माना जाता है। और एक मत ऐसा है, कि श्रीकृष्ण ने कालीय नाग को नाथकर उसकी एक फन्ना से दूसरी, दूसरी से तीसरी पर, इस प्रकार जो नर्तन किया, उससे विभिन्न तालों कि निष्पत्ति हुई।[५६]

'नाट्यशास्त्र' में निश्चित रस-उत्पत्ति के लिए निश्चित अवनद्ध (ताल) वाद्य के प्रयोग पर बल दिया गया है। इसका अर्थ यह है, कि ताल एवं वाद्य-गुण दोनों को रसोत्पत्ति में महत्त्वपूर्ण माना गया होगा। 'संगीत रत्नाकर' में इसी बात को समर्थन दिया गया है।[५७]

संगीत से रस-निष्पत्ति में ताल का महत्त्वपूर्ण योगदान है। हालाँकि किसी रस-विशेष कि उत्पत्ति के लिए ताल के उपरांत लय, ताल-वाद्य का गुण, इत्यादि पहलू बहुत मायने रखते हैं, फिर भी कुछ विद्वानों ने ताल और रस का संबंध निर्देशित किया है। तद्अनुसार, मोटे तौर पर ऐसा माना जा सकता है, कि

- तिलवाड़ा, झूमरा, विलंबित एकताल, झपताल, इत्यादि ताल शांत रस के पोषक हैं।
- चौताल, आड़ा चौताल, धमार, शूलताल, तेवरा, इत्यादि ताल वीर, रौद्र, भयानक तथा (क्वचित्) बीभत्स रस के पोषक हैं।
- रुपक, विलंबित झपताल, इत्यादि ताल करूण रस के पोषक हैं।

- त्रिताल, एकताल, दादरा, कहरवा, इत्यादि ताल श्रुंगार तथा (क्वचित्) हास्य रस के पोषक हैं।
- द्रूत त्रिताल, सवारी, पंचम सवारी, इत्यादि ताल अद्‌भुत रस के पोषक हैं।[५८]

वास्तव में ताल संगीत कि गति, लय का व्यक्त स्वरूप है। ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा कि ताल अंग संगीत में एक विशिष्ट जोम उत्पन्न करता है। ताल का चक्र रसिक एवं कलाकार को समाप्ति कि पूर्णता का अनुभव करवाता है। 'सम' में निहित विशिष्ट आनंद, रसानुभूति कि चरमसीमा का अनुभव ही इस बात का प्रमाण है। राग कि तरह ताल भी मर्यादा के साथ स्वतंत्रता का उत्कृष्ट उदाहरण है। भारतीय ताल-प्रस्तुति में वैयक्तिक रचनात्मकता, कल्पना एवं भावाभिव्यक्ति को अत्याधिक स्थान है।

संगत में ताल प्रबंध के अनुरूप पसंद करने की परंपरा ही सिद्ध करती है, कि ताल रस का पोषक है, रसाभिव्यक्ति का महत्त्वपूर्ण अंग है। ध्रुपद गायकी में चौताल या शूलताल, ठुमरी में पंजाबी या दीपचंदी जैसे तालों के प्रयोग का यही उद्देश्य है, कि वे प्रबंध की गंभीर या चंचल प्रकृति को अनुकूल होकर सफल रसाभिव्यक्ति का कारण बनें।

ताल द्वारा सांगीतिक रचनाओं में एक नियमितता का क्रम आ जाता है। ताल का चक्र सहजता एवं स्वाभाविक रीति से एक प्रकार का संतुलन बनाए रखता है।

तालयोगी पंडित सुरेश तलवलकर जी के ताल तथा उससे संबंधित सौन्दर्य तत्त्व के विषय में कुछ विचार यहाँ प्रस्तुत हैं। उनके अनुसार ठेका ताल की प्रथम बंदिश (composition) है। ताल का आवर्तन एक निश्चित दायरा है, एक प्रकार का अनुशासन है। ताल का चलन वज़न तथा खंड से बंदिश में दिखता है।

उनके अनुसार, सम भारतीय संगीत का 'highest emotional and also intelactual point' - अत्याधिक भावपूर्ण एवं बौद्धिक बिंदु - है। सम पर किस तरह से आए, उसका महत्त्व है, जो मुखड़ा तय करता है। वह सम को अधिक प्रभावपूर्ण दर्शाता है।

ताल के साथ बजने वाले लेहरे - नग़मे पर भी उनका चिंतन सराहनीय है। उनके अनुसार गायक को तबला ठेका देता है, उसी प्रकार स्वतंत्र ताल-वादन में लेहरा ठेका दर्शाता है। लेहरा ताल का होना चाहिए, मात्रा का नहीं - अर्थात्, ताल के खंड का वज़न उसमें दिखना चाहिए। 'नग़मा वादक को बिना बोल याद किए, ताल याद होना चाहिए !' - ऐसा उनका कथन है। नग़मा विलंबित लय में भरकर बजाना चाहिए; तबले कट-कट कर बजते हो, तो स्पष्ट, accurate। उसे तबले की लय से थोड़ा adjust - अनुकूलन करना है।[५९]

३.२.७ : पद (शब्द) :-

यद्यपि शब्द, जो कि साहित्य का नीवीं घटक है, संगीत कला का अनिवार्य घटक नहीं है; परंतु संगीत कला में भी उसका विपुल प्रमाण में उपयोग हुआ है। गायन एवं नर्तन विधा में पद यानि शब्द का (कई कृतियों में) उपयोग होता है।

भाव, रस कि अभिव्यक्ति के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए, तो शब्द अत्याधिक स्पष्ट माध्यम है। भाषा का घटक होने से वह अर्थबोध करवाने का सक्षम माध्यम है। संगीत में उसकी उपस्थिति अर्थबोध की स्पष्टता में वृद्धि करती है, वह निश्चित है। जिन कृतियों में पद पक्ष मौजूद हो, वह संगीत एवं साहित्य कला का समन्वय हैं, ऐसा कह सकते हैं।

भारत में वैदिक ऋचाओं का गान इसका सर्वप्रथम उदाहरण माना जाता है। उसके पश्चात सदैव संगीत ने शब्दों को अपनाया है। शब्द की क्षमता अत्याधिक है, उससे इच्छानुसार रस-सृष्टि निर्माण की जा सकती है, परंतु संगीत में उसका प्रयोग किया गया हो, तब परम आवश्यक है, कि वह स्वर, राग आदि घटकों से उचित मेल में हो। अगर निश्चित रस की निर्मिति की दिशा में संगीत एवं साहित्य का मेल किया जाए, तो दोनों का प्रभाव बढ़ता है; किन्तु उचित मेल न होने पर दोनों के प्रभाव पर नकारात्मक असर होता है। उत्कृष्ट रस-निर्मिति के लिए बंदिश का साहित्य पक्ष राग की प्रकृति के अनुरूप, अनुकूल होना अनिवार्य माना गया है। कुछ संगीतज्ञों द्वारा शब्दों को सिर्फ स्वर-स्वारावलि-राग प्रस्तुति के लिए एक स्थूल माध्यम मात्र मानकर किसी भी राग में कुछ भी साहित्य जोड़कर बंदिशें रची गई हैं, जो रस-निर्मिति के परिप्रेक्ष्य से उचित नहीं है।[६०]

अन्य साहित्यिक रचनाओं से भिन्न, संगीत में उपयुक्त साहित्य की कुछ मर्यादा है। इसमें शब्दों का स्वर, राग, लय तथा ताल के अनुरूप होना अपेक्षित है, क्योंकि सांगीतिक रचना में शब्दों का स्थान केवल एक घटक का है। तात्पर्य यह नहीं है, कि

उसका महत्त्व नहीं है। प्राचीन का से संगीत में पद को महत्त्वपूर्ण ही माना गया है। पंडित सारंगदेव द्वारा अपने ग्रंथ 'संगीत रत्नाकर' में दिया गया संगीतज्ञ का विश्लेषण उसका प्रमाण है। उसमें अच्छे संगीतज्ञ को 'वाग्येयकार' कहा गया है। वाग्येयकार का अर्थ है वाक् (वाणी) तथा गेय (गीत) की रचना का कर्ता। उत्तम वाग्येयकार के लक्षणों में भाषा तथा विविध बोली का ज्ञान, व्याकरण का ज्ञान, शीघ्र-कवित्त्व इत्यादि को अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना गया है। परंतु यह भी उल्लेखनीय है, कि कुछ संगीतज्ञों ने शुद्ध संगीत के अंतर्गत स्वर, राग, लय एवं ताल से निर्मित संगीत को ही स्थान दिया है।

कुछ बंदिशों में राग के अनुरूप शब्द - पद का उत्कृष्ट दृष्टांत विद्यमान है। जैसे, राग भैरव की 'जागो मोहन प्यारे', आहिर भैरव की 'भोर भई जागो', मुलतानी की 'धीमी धीमी साँझ', इत्यादि। ऋतु-प्रधान रागों में ऐसी बंदिशों की भरमार है। बसंत में 'फगवा ब्रिज देखन को', 'सरस सुगंध नई अलबेली', बहार में 'मालनियाँ गूँथ लावों री', 'कैसी निकसी चाँदनी', मियाँ मल्हार में 'बिजूरी चमके', 'बरसन लागी रे बादरिया', इत्यादि। इन बंदिशों से रस-निर्मिति अपनी पराकाष्ठा पर होती है, क्योंकि इनमें साहित्य और संगीत एक दिशा में जाते हैं, एक ही बात कहना चाहते हैं।

संगीत में यदि काव्य का अंश न हो, तो किसी विशेष वातावरण कि सृष्टि तो हो सकती है, परंतु संपूर्ण परिस्थिति प्रस्तुत नहीं की जा सकती। कथानक का, घटनाओं का वर्णन मात्र स्वर सन्निवेश तालयुक्त होने पर भी नहीं कर सकते, क्योंकि केवल स्वर से अर्थबोध नहीं होता। अर्थबोध की दशा में विचारों में एक क्रम रहता है, जो चित्तवृत्ति को अपनी ओर आकर्षित करके इधर-उधर बिखरने नहीं देता, वरन् मुक्त कि तरह घटनाओं को एक के बाद एक करके पिरोता चलता है। अतः अर्थबोध रसानुभूति का प्रबल कारण और रसाभिव्यक्ति का प्रबल माध्यम है। घटनाओं का क्रम प्रस्तुत कर अर्थ स्पष्ट करना काव्य की संगीत को अनुपम देन है।[६१]

आनंदवर्धन तथा उनके विरोधी भी गीत - शब्दों में रस-व्यञ्जना की शक्ति मानते हैं और कहते हैं, कि गीत के शब्द आवाचक होने पर भी रस-व्यञ्जक होते हैं। 'ध्वन्यालोक' में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है :

"तथा हि गीतध्वनीनामपि व्यञ्जकत्वमस्तीति रसादिविषयम्।
न च तेषां वाचकत्वं लक्षणा वा कथञ्चिल्लक्ष्यते।।
शब्दादन्यत्रापि विषये व्यञ्जकत्वस्थ दर्शनाद् ।
वाचकत्वादिशब्दधर्मप्रकारत्वमयुक्तं वक्तुम्।"

- 'ध्वन्यालोक'।[६२]

भावार्थ यही है, कि गीतध्वनि - शब्द में भी रस संबंधी व्यंजकत्त्व विद्यमान है।

३.२.८ : ध्वनि - गुण (लक्षण) :-

संगीत कला में अनेक वाद्यों का प्रयोग प्राचीन काल से हो रहा है। प्रत्येक वाद्य की ध्वनि का अगवापन है, विशिष्ट गुण (लक्षण) है, जो उसे अन्य वाद्य से भिन्न बनाता है।

कई विद्वानों ने वाद्य-ध्वनि के इस विशिष्ट गुण का संबंध भी भाव एवं रस से माना है। यह वादन विधा से संलग्न पहलू है।

'नाट्यशास्त्र' तथा 'संगीत रत्नाकर' में निश्चित रस-भाव को उत्पन्न करने हेतु अलग-अलग (अवनद्ध) वाद्य बजने पर बल दिया गया है। अलग-अलग परिस्थिति तथा पात्र दर्शाने के लिए संगत में भिन्न-भिन्न वाद्यों का प्रयोग निर्देशित किया गया है। इससे सिद्ध होता है, कि भरत, सारंगदेव, आदि प्राचीन विद्वानों ने विविध वाद्यों के विभिन्न स्वभाव एवं प्रभाव को माना है।[६३]

मनुष्य ने प्रकृति से अक्सर यह अनुभव किया है, कि सूक्ष्म, सुन्दर, लावण्यमय वस्तु की ध्वनि मधुर, मृदु होती है, जबकि विराट, विशाल वस्तु की ध्वनि जोरदार, जोमसभर, भारी होती है। अतः पदार्थ या वस्तु को बिना देखे, सिर्फ श्रवण से भी मृदु ध्वनि उसमें लावण्य तथा जोरदार ध्वनि उसमें जोम इत्यादि की भावना को उजागर करती है। सांगीतिक वाद्यों की प्रकृति को ध्यान में लिया जाए, तो वीणा के गंभीर नाद की अपेक्षा (सितार या) संतूर का नाद चंचल है, पखवाज के भारी नाद की अपेक्षा (तबला या) ढोल का नाद हल्का है। मृदु, चंचल भाव की प्रस्तुति में गंभीर, भारी वाद्य का प्रयोग या गंभीर, भारी भाव कि प्रस्तुति में मृदु, चंचल वाद्य का प्रयोग रस-निष्पत्ति की उत्कृष्टता में बाध्य बनता है।[६४]

यह तर्क स्वतंत्र वाद्य-प्रस्तुति के लिए पूर्णतः मान्य नहीं हो सकता, वह भी विशेषतः शास्त्रीय वाद्य संगीत में; क्योंकि प्रायः हरेक वादक अपने वादन में सभी

भावों की, रस की अभिव्यक्ति करने प्रयत्नशील होता है। परंतु कुछ निश्चित हद तक इसें भी उपरोक्त तर्क को समर्थन दिया गया है। यद्यपि वीणा वादन में दरबारी राग अत्याधिक निखर सकता है, पर इसका अर्थ यह नहीं, कि सितार पर दरबारी राग नहीं बजाया गया। परंतु यह भी हकीकत है, कि संतूर जैसे वाद्य पर यह राग प्रायः सुनने नहीं मिलेगा। अतः विदीत है, कि वाद्य की प्रकृति, स्वभावगत रस तथा क्षमता को शास्त्रीय कलाकारों ने नज़रअंदाज़ किया है, ऐसा नहीं है।

वाद्यों के ध्वनि-गुण के मुताबिक उनका रस से संबंध दर्शाने का एक (मोटे तौर पर) प्रयास इस प्रकार हो सकता है :

- सितार, संतूर, जलतरंग, इत्यादि वाद्यों की ध्वनि श्रुंगार तथा हास्य रस की पोषक है।
- सारंगी, वायलिन, शहनाई, इत्यादि वाद्यों की ध्वनि करुण, भयानक तथा (क्वचित्) बीभत्स रस की पोषक है।
- पखवाज, मृदंग, तबला, इत्यादि वाद्यों की ध्वनि वीर, रौद्र तथा अद्‌भुत रस की पोषक है।
- बाँसुरी, सरोद, वीणा, इत्यादि वाद्यों की ध्वनि शांत रस की पोषक है।[६५]

उल्लेखनीय है, कि सिर्फ वाद्य-विशेष के स्वतंत्र नाद से वह रस की निष्पत्ति होना सदैव संभव नहीं है, क्योंकि वाद्य संगीत में साहित्य तथा अभिनय दोनों की अनुपस्थिति है। अतः उसके माध्यम से स्वतंत्र रूप से हरेक रस की निष्पत्ति करना संभव नहीं हो सकता। परंतु नर्तन, नाट्य आदि विधा में निश्चित रस-विशेष दर्शाते समय संगत के रूप में ये वाद्य उपरोक्त रसों की निष्पत्ति में सहायक, पोषक बन सकते हैं।

अलबत्त, वाद्य के गुण के उपरांत स्वर, राग, लय, ताल इत्यादि पहलूओं का भी रस-निर्मिति पर प्रभाव है। पर वाद्य की लाक्षणिकता का भाव, रस से संबंध

अवश्य है। सुगम संगीत में विभिन्न वाद्यों की संगत, इत्यादि यह तर्क की पूर्ति करते हैं।

वर्तमान समय में 'Theme music' का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। उसमें अधिकतर वाद्य-वृंद होता है, जो कोई निश्चित विषय-वस्तु को संगीत से अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। इसमें शास्त्रीय, शास्त्रीय आधारित या अन्य संगीत हो सकता है। परंतु महत्त्वपूर्ण बात यह है, कि 'Theme' के अनुसार वाद्यों का चयन किया जाता है। जैसे, यदि 'River' विषय-वस्तु है, तो संतूर जैसे चंचल वाद्य का प्रयोग होता है। 'शिव-नाद' विषय-वस्तु है, तो रुद्र वीणा, पखवाज, जैसे गंभीर वाद्य का प्रयोग होता है।

वादन विधा में न तो शब्द है, न ही अभिनय - जो कि दोनों ही रसाभिव्यक्ति के अत्यंत स्पष्ट माध्यम है। ऐसे में रस-निष्पत्ति के संदर्भ में वाद्य का निजी गुण, उसकी लक्षणिकता अत्यंत महत्त्वपूर्ण पहलू सिद्ध होता है।

३.२.९ : अभिनय :-

'अभिनय' संस्कृत शब्द है। 'अभि' का अर्थ है : 'की तरफ' और 'नय' का अर्थ है : 'ले जाना, दिखाना'। भरतमुनि ने 'अभिनय' का प्रयोग कलाकृति के मर्म की ओर ले जाने वाला, मर्म दिखाने वाला, ऐसा किया है। अभिनय कलाकृति के मर्म को प्रदर्शित, प्रस्तुत करता है।[६६]

'अभिनय' यानि मर्म - भाव - को रसिक की ओर ले जाने वाला, ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है। 'साहित्य दर्पण' के अनुसार अभिनय पात्र की (मानसिक या शारीरिक) स्थिति का अनुकरणात्मक, दृश्य स्वरूप है। पात्र में निहित भाव की अनुभूति रसिक को करवाता है। मल्लिनाथ के अनुसार अभिनय रसानुभूति का उत्तेजक है। अभिनय का मूल यजुर्वेद में माना जाता है। कुछ वैदिक ऋचाओं के पठन के समय निश्चित अंग-भंगिमा बनाई जाती थी, जो इसका प्रमाण है। भरतमुनि ने अभिनय का उल्लेख नाट्य के संदर्भ में किया है, परंतु नर्तन कला में भी उसका अत्याधिक महत्त्व है। कुछ प्रमाण में शिल्प एवं चित्र कला में भी अभिनय तत्त्व की उपस्थिति होती है।[६७]

ऐसा माना जा सकता है, कि अभिनय रस तत्त्व का सटीक वाहक है। उसके चार प्रकार भरतमुनि द्वारा बताये गए हैं : आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक। प्रत्येक अभिनय रसाभिव्यक्ति में अपने विशिष्ट तरीके से योगदान देता है। रस निष्पत्ति में इन चारों अभिनय को अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना गया है। अभिनय वास्तविकता को प्रतीकात्मक रूप से, सौन्दर्यपूर्ण तरीके से प्रस्तुत करता है। उसमें वास्तव का हूबहू प्रदर्शन नहीं है, परंतु उसकी ओर निर्देशन अवश्य है।

१) आंगिक अभिनय :

अंग, उपांग तथा प्रत्यांग के विविध प्रकार के संचालन से निर्मित सुन्दर अंग-भंगिमाओं द्वारा प्रस्तुत भाव-प्रदर्शन को 'आंगिक अभिनय' कहा गया है।

"चतुर्धाभिनयस्तात्रअंगीकोर्निर्देशित।"

- 'अभिनय दर्पणम्'।

अर्थात्, अभिनय के चार प्रकार में से शरीर से निर्देशित 'आंगिक अभिनय' है।

"चतुर्धाभिनयस्तात्रअंगीकोदर्शितोमत्त।"

- 'संगीत रत्नाकर'।

अर्थात्, अभिनय के चार प्रकार में से शारीरिक (भंगिमा तथा हलन-चलन से प्रस्तुत) 'आंगिक अभिनय' है।

"कर्माणोन्म्रूपंगेस्चेवसाक्षाद्भावन्मंगिक।"

- 'नाट्य दर्पण'।

अर्थात्, आंगिक अभिनय वह प्रक्रिया है, जिसमें कलाकार रसिक को अपने शरीर के माध्यम से प्रभावित करता है।

"त्रिविधिस्तवंगीकोग्नेयशरिरौमुख्जास्तथा।
तथाचेष्टाकृतासचैवषाखान्गोपान्सान्युक्त।।"

- 'नाट्यशास्त्र'।

अर्थात्, आंगिक अभिनय के तीन प्रकार हैं : शरीरज, मुखज तथा चेष्टाकृत।[६८]

अंग, उपांग तथा प्रत्यांग उपयुक्त हो, वह ‘शरीरज’ है, चेहरा तथा उससे संलग्न उपांग उपयुक्त हो, वह ‘मुखज’ है तथा अंग विन्यास, स्थिति-निर्धारण-परिवर्तन उपयुक्त हो, वह ‘चेष्टाकृत’ आंगिक अभिनय कहा गया है। प्राचीन विद्वानों भरत, नंदिकेश्वर, इत्यादि ने इनके कई भेद बताकर उन्हें विभिन्न रस, भाव या उससे संबंधित क्रिया से संलग्न बताया है।

‘मुखज’ के अंतर्गत शिरो भेद, दृष्टि भेद, तारा कर्म, पुट कर्म, भृकुटि भेद, नासा कर्म, कपोल कर्म, अधरोष्ठ कर्म, चिबुक भेद, अस्य भेद तथा ग्रीवा भेद समाविष्ट हैं।

‘शरीरज’ के अंतर्गत हस्तमुद्रा (हस्त कर्म), वक्षस्थल कर्म, पार्श्व कर्म, उदर कर्म, कटि कर्म, उरु कर्म, जंघा कर्म तथा पाद कर्म समाविष्ट हैं।

‘चेष्टाकृत’ के अंतर्गत चारी, गति, करण, रेचक, पिण्डीबन्ध, इत्यादि समाविष्ट हैं।

- **शिरो भेद :**

भरतमुनि द्वारा १३ शिरो भेद बताये गए हैं :

१) आकम्पित - मस्तक को धीरे-धीरे ऊपर तथा नीचे हिलाना। इसका प्रयोग इशारा करने, उपदेश देने, प्रश्न करने, स्वाभाविक भाषण करने, आज्ञा प्रदान करने तथा बुलाने में किया जाता है। अतः इसका विनियोग शांत, श्रृंगार, जैसे रस में विदीत होता है।

२) कम्पित - मस्तक को ऊपर तथा नीचे की ओर अनेक बार द्रूत गति में कम्पायमान करना। इसका प्रयोग क्रोध, वितर्क, विज्ञान समझने, प्रतिज्ञा करने, तर्जन करने, अधिक प्रश्न करने तथा व्याधि प्रकट करने में किया जाता है। अतः इसका विनियोग रौद्र, वीर, जैसे रस में विदीत होता है।

३) धुत - मस्तक को धीरे-धीरे हिलाना। इसका प्रयोग अनिच्छा, विषाद, विस्मय, विश्वास, दोनों पार्श्व देखने, शून्यता तथा प्रतिषेध में किया जाता है। अतः इसका विनियोग करुण, अद्भुत, जैसे रस में विदीत होता है।

४) विधुत - मस्तक को शीघ्रता से हिलाना। इसका प्रयोग शीत से ग्रस्त, भय से पीड़ा होने, त्रास, ज्वर तथा मद्यपान की अवस्था में किया जाता है। अतः इसका विनियोग करुण, भयानक, बीभत्स, जैसे रस में विदीत होता है।

५) परिवाहित - मस्तक को दोनों पार्श्वों की ओर क्रमशः कंपित करना। इसका प्रयोग विस्मय, प्रसन्नता, स्मरण, क्रोध, विचार, भाव-गोपन तथा लीलापूर्वक क्रीड़ा में किया जाता है। अतः इसका विनियोग अद्भुत, हास्य, रौद्र, श्रृंगार, जैसे रस में विदीत होता है।

६) आधूत - मस्तक को दोनों पार्श्वों की ओर तिरछा तथा एक बार कंपित करना। इसका प्रयोग गर्व की भावना में, पर्व विशेष पर, ऊपर की ओर देखने, आत्म

सम्मान बताने में किया जाता है। अतः इसका विनियोग वीर जैसे रस में विदीत होता है।

७) अवधूत - मस्तक को नीचे की ओर एक बार कंपित करना। इसका प्रयोग संदेश देने, देवता संबंधी आह्वान करने, अलुप्त होने, किसी को समीप आने का संकेत करने में किया जाता है। अतः इसका विनियोग शांत, भक्ति, श्रुंगार, जैसे रस में विदीत होता है।

८) अंचित - मस्तक को ग्रीवा में से एक ओर झुकाना। इसका प्रयोग व्याधि ग्रस्तता, मूर्च्छा, चिंता युक्त होने तथा दुःखी होने में किया जाता है। अतः इसका विनियोग करुण जैसे रस में विदीत होता है।

९) निहंचित - मस्तक को गर्दन से एक ओर संकुचित करके दोनों कंधों को ऊपर की ओर फैलाना। इसका प्रयोग (स्त्रीयों के द्वारा) गर्व, विलास, मान, स्तंभ, इत्यादि में किया जाता है। अतः इसका विनियोग श्रुंगार, वीर, जैसे रस में विदीत होता है।

१०) परावृत्त - मस्तक को गोल घुमाव देना। इसका प्रयोग मुँह के मोड़ने तथा पीछे की ओर देखने इत्यादि में किया जाता है। अतः इसका विनियोग श्रुंगार, भयानक, बीभत्स, जैसे रस में विदीत होता है।

११) उत्क्षिप्त - मस्तक ऊपर की ओर देखते हुए स्थित होना। इसका प्रयोग ऊँची वस्तु तथा दिव्य अस्त्र की प्राप्ति, इत्यादि में किया जाता है। अतः इसका विनियोग भक्ति, वीर, अद्भुत, शांत, जैसे रस में विदीत होता है।

१२) अधोगत - मस्तक सहित चेहरे को नीचे की ओर झुका लेना। इसका प्रयोग लज्जा प्रकट करने, प्रणाम करने तथा दुःख का भाव प्रकट करने में किया जाता है। अतः इसका विनियोग श्रुंगार, भक्ति, करुण, जैसे रस में विदीत होता है।

१३) लोलित - मस्तक को चारों ओर घुमाना। इसका प्रयोग मूर्च्छा, व्याधि, मद, आवेश, निद्रा, इत्यादि में किया जाता है। अतः इसका विनियोग करुण, भयानक, बीभत्स, जैसे रस में विदीत होता है।

उल्लेखनीय है, कि नंदिकेश्वर ने 'अभिनय दर्पणम्' में नौ (९) शिरो भेद बताए हैं।

- **दृष्टि भेद :**

भरतमुनि द्वारा ३६ दृष्टि भेद बताये गए हैं, जिनमें ८ रस दृष्टि, ८ स्थायीभाव दृष्टि तथा २० संचारीभाव दृष्टि हैं।

रस दृष्टि :

१) कान्ता - अतिशय स्नेह, हर्ष, प्रसाद (मनोविनोद), (क्वचित) कटाक्षयुक्त देखना। इसका विनियोग श्रृंगार रस में बताया गया है।

२) भयानका - पलकों को ऊपर उठाकर स्थिर करके पुतलियों को (अतिशय भय सूचित करते हुए) गोल घुमाते हुए देखना। इसका विनियोग भयानक रस में बताया गया है।

३) हास्या - पलकों को सिकुड़ना-खोलना तथा पुतलियों को घुमाकर देखना। इसका विनियोग हास्य रस में बताया गया है।

४) करुणा - ऊपरी पलकें नीचे की ओर लाकर अश्रु-सभर नेत्रों से नासिका की नोंक की दिशा में स्थिर देखना। इसका विनियोग करुण रस में बताया गया है।

५) अद्भुता - बरौनियाँ नोंक पर थोड़ी सिकुड़ी रखकर पुतलियाँ (आश्चर्य से) ऊपर उठाकर सौम्य-विकसित नेत्र से देखना। इसका विनियोग अद्भुत रस में बताया गया है।

६) रौद्री - स्थिर पलकों, तंग भृकुटि के साथ रुक्ष, लाल पुतलियों से देखना। इसका विनियोग रौद्र रस में बताया गया है।

७) वीरा - मध्य में स्थिर पुतलियों के साथ चमकीले, क्षुब्ध, गंभीर, मध्य भाग से विकसित नेत्र से देखना। इसका विनियोग वीर रस में बताया गया है।

८) बीभत्सा - एक-दूसरे से मिली एवं स्थिर बरौनियाँ, दबी हुई पुतलियाँ तथा पलकों से कोने ढ़के नेत्रों से देखना। इसका विनियोग बीभत्स रस में बताया गया है।

स्थायीभाव दृष्टि :

९) स्निग्धा - स्थिर पुतलियों से मृदु, माधुर्यपूर्ण, आनंदाश्रुयुक्त, मध्यम विकसित नेत्र से देखना। इसका प्रयोग 'रति' स्थायीभाव में बताया गया है। अतः इसका विनियोग श्रृंगार रस में विदीत होता है।

१०) हृष्टा - पलकें कुछ सिकुड़ी हुई, परस्पर थोड़ी-सी लगती हुई, अर्ध-दृश्य पुतलियाँ तथा चंचल नेत्र से देखना। इसका प्रयोग 'हास' स्थायीभाव में बताया गया है। अतः इसका विनियोग हास्य रस में विदीत होता है।

११) दीना - ऊपरी पलक झुकाकर पुतलियाँ अर्ध ढ़की हुई और मंद गतिमान रहे, उस प्रकार अश्रुसभर नेत्र से देखना। इसका प्रयोग 'शोक' स्थायीभाव में बताया गया है। अतः इसका विनियोग करुण रस में विदीत होता है।

१२) क्रुद्धा - तंग, वक्र भृकुटि, ऊपर की तरफ और गतिहीन पलकें तथा पुतलियों से देखना। इसका प्रयोग 'क्रोध' स्थायीभाव में बताया गया है। अतः इसका विनियोग रौद्र रस में विदीत होता है।

१३) दृप्ता - स्थिर पुतलियाँ, सत्त्व प्रकट करते पूर्ण-विकसित नेत्र से देखना। इसका प्रयोग 'उत्साह' स्थायीभाव में बताया गया है। अतः इसका विनियोग वीर रस में विदीत होता है।

१४) भयान्विता - भय से काँपती हुई, मध्य से थोड़ी हटी हुई, चारों तरफ घुमती पुतलियाँ, पूर्ण-विकसित नेत्र से देखना। इसका प्रयोग 'भय' स्थायीभाव में बताया गया है। अतः इसका विनियोग भयानक रस में विदीत होता है।

१५) जुगुप्सिता - सिकुड़ी पर परस्पर न मिलती हुई पलकें, दृष्टि में आने वाले लक्ष्य से लौटने की स्थिति में पुतलियाँ घुमाकर देखना। इसका प्रयोग 'जुगुप्सा' स्थायीभाव में बताया गया है। अतः इसका विनियोग बीभत्स रस में विदीत होता है।

१६) विस्मिता - स्थिर पलकों से, ऊपर की ओर पुतलियाँ रखकर पूर्ण-विकसित नेत्र से देखना। इसका प्रयोग 'विस्मय' स्थायीभाव में बताया गया है। अतः इसका विनियोग अद्भुत रस में विदीत होता है।

संचारी (व्याभिचारी) भाव दृष्टि :

१७) शून्या - सम पुतलियाँ और पलकोंयुक्त क्षीण, स्थिर तथा (अपने स्थान पर ही लौटने वाली होकर) किसी बाह्य पदार्थ को ग्राह्य न करने वाली दृष्टि। चिन्ता जैसे व्याभिचारीभाव में इसकी योजना बताई गई है।

१८) मलिना - कंपित बरौनियाँ, थोड़ी विकसित पलकें, (नेत्र के) मलिन कोने, स्थिर पुतलियाँ युक्त दृष्टि। निर्वेद, वैवर्ण्य, जैसे व्याभिचारीभाव में इसकी योजना बताई गई है।

१९) श्रान्ता - श्रम से मलान पलकें, (नेत्र के) सिकुड़े हुए कोने, नीचे झुकी हुई पुतलियाँयुक्त निर्बल दृष्टि। श्रम, स्वेद, जैसे व्याभिचारीभाव में इसकी योजना बताई गई है।

२०) लज्जान्विता - अग्र भाग से झुके बरौनियाँ, ऊपरी पलकें तथा पुतलियाँ युक्त दृष्टि। लज्जा जैसे व्याभिचारीभाव में इसकी योजना बताई गई है।

२१) ग्लाना - म्लान, मंदगति भोंहें, पलकें तथा बरौनियाँ, पलकों से अर्ध ढ़की पुतलियाँ युक्त दृष्टि। अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, जैसे व्याभिचारीभाव में इसकी योजना बताई गई है।

२२) शंकिता - भयभीत, चकित पुतलियाँयुक्त कभी स्थिर तो कभी चंचल, कभी ऊपर तो कभी तिरछी, कभी विस्तृत तो कभी गूढ़ होने वाली दृष्टि। शंका जैसे व्याभिचारीभाव में इसकी योजना बताई गई है।

२३) विषादिनी - विषाद से फैली पलकें, स्थिर पुतलियाँ, न खुले, न बंद नेत्र के कोनेयुक्त व्यग्र दृष्टि। विषाद जैसे व्याभिचारीभाव में इसकी योजना बताई गई है।

२४) मुकुला - कुछ कंपित तथा परस्पर मिली हुई बरौनियाँ, अधखुली पलकें, हर्ष से खिली पुतलियाँ युक्त दृष्टि। निद्रा, स्वप्न, प्रसन्नता जैसे व्याभिचारीभाव में इसकी योजना बताई गई है।

२५) कुंचिता - झुकी हुई बरौनियाँ की नोंक, सिकुड़ी हुई पलकें और पुतलियाँ युक्त दृष्टि। असूया, अनिष्ट, कष्ट, (नेत्रों की) पीड़ा, जैसे व्याभिचारीभाव में इसकी योजना बताई गई है।

२६) अभितप्ता - अतिशय दुर्गति तथा विघ्न को स्वतःदर्शित करती हिलती पलकें और धीरे-धीरे घुमती पुतलियाँ युक्त दृष्टि। आकस्मिक चोट, अति संताप, जैसे व्याभिचारीभाव में इसकी योजना बताई गई है।

२७) जिह्मा - झुकी हुई, कुछ सिकुड़ी हुई पलकें, गूढ पुतलियाँ युक्त, गूढ़, तिरछी दृष्टि। असूया, जड़ता, आलस्य, जैसे व्याभिचारीभाव में इसकी योजना बताई गई है।

२८) ललिता - पलकों के सिकुड़े हुए कोने, कामजन्य विकारों की अभिव्यक्ति करते हलन-चलन करती भोंहों, माधुर्यपूर्ण अवलोकन युक्त दृष्टि। धैर्य (धृति), हर्ष जैसे व्याभिचारीभाव में इसकी योजना बताई गई है।

२९) वितर्किता - खिली हुई, नीचे की ओर हिलती हुई पुतलियाँ, अटकल या तर्क के कारण ऊपर उठी हुई पलकें युक्त दृष्टि। स्मृति, तर्क, जैसे व्याभिचारीभाव में इसकी योजना बताई गई है।

३०) अर्धमुकुला - अर्धखुली बरौनियाँ और पलकें, पूर्ण रूप से खिली तथा नीचे की ओर घुमती हुई पुतलियाँ युक्त दृष्टि। मधुर गंध, स्पर्श से होने वाले आनंद, जैसे व्याभिचारीभाव में इसकी योजना बताई गई है।

३१) विभ्रान्ता - पूर्ण रूप से कहिले, फैले नेत्र, घुमती हुई पलकें और पुतलियाँ युक्त दृष्टि। आवेग, संभ्रम, विभ्रम जैसे व्याभिचारीभाव में इसकी योजना बताई गई है।

३२) विलुप्ता - फड़ककर, कंपित होकर स्थिर हुई पलकें, विघ्न के कारण ऊपर की ओर फड़कती पुतलियाँ युक्त चपलता, उन्माद, दुःख, मानसिक व्यथा, मरण, जैसे व्याभिचारीभाव में इसकी योजना बताई गई है।

३३) आकेकरा - कुछ सिकुड़े हुए, अर्धखुले पलकें, नेत्र, बार-बार गोल घुमाव लेती पुतलियाँ युक्त दृष्टि। दूरी के कारण न दिखने वाले पदार्थ, वियोग, प्रोक्षण से संस्कृत वस्तु, जैसे व्याभिचारीभाव में इसकी योजना बताई गई है।

३४) विकोशा - फैली-खिली, न गिरने वाली पलकें, अव्यवस्थित रूप से गतिशील पुतलियाँ युक्त दृष्टि। विबोध, मति, गर्व, अमर्ष, उग्रता, जैसे व्याभिचारीभाव में इसकी योजना बताई गई है।

३५) त्रस्ता - त्रास (संताप) से उठी पलकें, खिला हुआ मध्य भाग तथा ऊपर की ओर घुमती हुई पुतलियाँ युक्त दृष्टि। त्रास जैसे व्याभिचारीभाव में इसकी योजना बताई गई है।

३६) मदिरा - इसके तीन प्रभेद हैं - तरुणमद, मध्यमद तथा अधममद। नेत्र के पतले कोने, नेत्र झुके हुए, नोंकें पूर्ण रूप से फैली हुई, दृष्टि का मध्य भाग घूमने वाला हो, वह तरुणमद; इसीमें कुछ सिकुड़ी हुई पलकें, पुतलियाँ तथा बरौनियाँ क्रमहीन दशा में कुछ हिलती हो, वह मध्यमद; तथा गिरती या एकदम रुक जाती पलकें, थोड़ी-सी दिखती, नीचे की ओर घुमती पुतलियाँ हो, वह अधममद दृष्टि। मद जैसे व्याभिचारीभाव में इसकी योजना बताई गई है।

- **तारा (पुतली) भेद :**

भरतमुनि द्वारा ९ तारा भेद बताये गए हैं :

१) भ्रमण - पुतलियों का गोल घुमाव। इसका उपयोग वीर तथा रौद्र रस में बताया गया है।

२) वलन - पुतली को तिरछा ले जाना। इसका उपयोग वीर तथा रौद्र रस में बताया गया है।

३) पात - खुली पुतली का ऊपर से नीचे की ओर सीधा आना। इसका उपयोग वीर तथा रौद्र रस में बताया गया है।

४) चलन - पुतली का दोनों ओर बराबर घुमना। इसका उपयोग भयानक रस में बताया गया है।

५) सम्प्रवेशन - पुतली का अंदर खींचना या अंदर जाना। इसका उपयोग हास्य तथा बीभत्स रस में बताया गया है।

६) विवर्तन - पुतली को एक कोने में ले जाकर कटाक्षपूर्ण ढंग से देखना। इसका उपयोग श्रुंगार रस में बताया गया है।

७) समुद्वृत्त - पुतलियों का फैलाव लेते हुए ऊपर की ओर उठाना। इसका उपयोग वीर तथा रौद्र रस में बताया गया है।

८) निष्क्राम - पुतलियों को बाहर की ओर धकेलना। इसका उपयोग वीर, रौद्र तथा अद्भुत रस में बताया गया है।

९) प्राकृत - पुतलियों का अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहना। इसका उपयोग अवशिष्ट भावों में बताया गया है।

इनके उपरांत भरतमुनि ने दर्शन या अवलोकन के ८ प्रकार बताये हैं, जिनका प्रयोग विभिन्न रस-भाव प्रदर्शन में आवश्यकतानुसार किया जाता है : १) सम - समान,

सौम्य, स्वाभाविक अवस्था में पुतलियाँ होना। २) साची - पुतलियाँ पलकों के अंदर दबकर तिरछी हो जाना। ३) अनुवृत्त - चारों तरफ ध्यानपूर्वक देखना। ४) आलोकित - सहसा किसी वस्तु को देखना। ५) विलोकित - पीछे की ओर देखना। ६) प्रलोकित - दोनों कोखों की ओर क्रमपूर्वक देखना। ७) उल्लोकित - ऊपर की ओर देखना। ८) अवलोकित - नीचे भूमि की ओर देखना।

- **पुट (पलक) भेद :**

९ पुट भेद बताये गए हैं, जिनका विभिन्न भावों के प्रदर्शन में स्थान है :

१) उन्मेष - पलकों का एकमेव से अलग होना। इसका प्रयोग क्रोध जैसे भाव में बताया गया है।

२) निमेष - पलकों का इकठ्ठा होना - मिलना। इसका प्रयोग क्रोध जैसे भाव में बताया गया है।

३) प्रस्तृत - पलकों का फैलना। इसका प्रयोग आश्चर्य, उत्साह, हर्ष, जैसे भाव में बताया गया है।

४) कुंचित - पलकों का सिकुड़ना। इसका प्रयोग जुगुप्सा, गन्ध, स्पर्श, जैसे भाव (या क्रिया) में बताया गया है।

५) सम - पलकों का अपनी स्वाभाविक स्थिति में होना। इसका प्रयोग रति जैसे भाव में बताया गया है।

६) विवर्तित - पलकों को ऊपर की ओर उठाना। इसका प्रयोग क्रोध जैसे भाव में बताया गया है।

७) स्फुरित - पलकों का स्पंदन - सिकुड़ना और फैलाना। इसका प्रयोग ईर्ष्या जैसे भाव में बताया गया है।

८) पिहित - पलकों को बंद करना। इसका प्रयोग निद्रा, मूर्च्छा, पवन, उष्ठाता, धुआँ, वर्षा, अंजन-लोप, पीड़ा, नेत्र-रोग, जैसे भाव (या क्रिया) में बताया गया है।

९) विताड़ित - पलकों को आकस्मिक रूप से फड़फड़ाना। इसका प्रयोग आकस्मिक चोट जैसे भाव (या क्रिया) में बताया गया है।

- **भृकुटि भेद :**

७ भृकुटि भेद बताये गए हैं, जिनका विभिन्न भावों के प्रदर्शन में स्थान है :

१) उत्प्रेक्ष - भृकुटियों को एक साथ अथवा क्रमशः ऊपर चढ़ाना। इसका प्रयोग क्रोध, वितर्क, हेला, लीला, सहज अवलोकन तथा श्रवण, विस्मय, हर्ष, जैसे भाव (या क्रिया) में बताया गया है।

२) पातन - भृकुटियों को एक साथ अथवा क्रमशः नीचे उतारना। इसका प्रयोग असूया, जुगुप्सा, हास, सुगंध लेना, जैसे भाव (या क्रिया) में बताया गया है।

३) भृकुटी - दोनों भृकुटियों के मूलों को एक साथ ऊपर चढ़ाना। इसका प्रयोग क्रोध, दीप्त, जैसे भाव (या क्रिया) में बताया गया है।

४) चतुर - दोनों भृकुटियों का मधुर हलन-चलन, विस्तार करना। इसका प्रयोग रति, लालित्य, सौम्य वस्तु, स्पर्श, प्रबोध (जागना) जैसे भाव (या क्रिया) में बताया गया है।

५) कुंचित - भृकुटियों को एक साथ - पास-पास लाना। इसका प्रयोग रति, झंखना, इत्यादि भाव में बताया गया है।

६) रेचित - एक भृकुटि को लालित्यपूर्ण ढंग से ऊपर उठाना। इसका प्रयोग नृत्त में (लालित्य दर्शाने) बताया गया है।

७) सहज - भृकुटि का स्वाभाविक स्थिति में होना। इसका प्रयोग स्वाभाविक स्थिति दर्शाते भाव में बताया गया है।

- **नासा (नासिका) भेद :**

६ नासा भेद बताये गए हैं :

१) नता - नासापुट का बार-बार मिलना, चपटे हो जाना। इसका प्रयोग नायिका को मनाने में, रुदन के रुक या कम हो जाने में, साँस-उसाँस लेने में, इत्यादि क्रिया तथा उससे संबंधी भाव में बताया गया है।

२) मन्दा - नासापुट स्थिर होना। इसका प्रयोग निर्वेद, औत्सुक्य, चिंता, शोक, इत्यादि भाव में बताया है।

३) विकृष्टा - नासापुट फूले हुए होना। इसका प्रयोग तीव्र गंध, भारी साँस, रोष, भय, पीड़ा, उत्साह, इत्यादि भाव में बताया है।

४) सोच्छ्वासा - नासापुटों में साँस को खींचना। इसका प्रयोग इष्ट गंध, दीर्घ साँस-उसाँस, इत्यादि क्रिया तथा उससे संबंधी भाव में बताया गया है।

५) विकूणिता - नासापुटों का सिकुड़े हुए होना। इसका प्रयोग जुगुप्सा, असूया, हास्य, इत्यादि भाव में बताया गया है।

६) समा या स्वाभाविका - नासापुटों का सहज होना। इसका प्रयोग साहजिक भावों में बताया गया है।

- **कपोल (गंडा) भेद :**

६ कपोल भेद बताये गए हैं :

१) क्षाम - कपोल अवनत या बैठे हुए होना। इसका प्रयोग दुःख के भाव में बताया गया है।

२) फुल्ल या विकसित - कपोल फूले या भरे हुए होना। इसका प्रयोग हर्ष के भाव में बताया गया है।

३) पूर्ण - कपोल का उन्नत या ऊँचे उठे हुए होना। इसका प्रयोग उत्साह तथा गर्व के भाव में बताया गया है।

४) कम्पित - कपोल का स्फुरित होना या काँपना। इसका प्रयोग रोष तथा हर्ष के भाव में बताया गया है।

५) कुंचित - कपोल का सिकुड़े हुए या संकुचित होना। इसका प्रयोग रोमांच, स्पर्श, शीत, भय तथा ज्वर के भाव में बताया गया है।

६) सम - कपोल का स्वाभाविक दशा में स्थित होना। इसका प्रयोग साहजिक भावों में बताया गया है।

- **अधरोष्ठ (अधर) भेद :**

  ६ अधर भेद बताये गए हैं :

१) विवर्तन - निचले अधर का फड़कना या नीचे झुकना। इसका प्रयोग असूया, वेदना, लज्जा, अनादर, हास्य, इत्यादि भाव में बताया गया है।

२) कम्पन - अधर का हिलना, कांपना। इसका प्रयोग वेदना, शीत, भय, क्रोध, वेग, इत्यादि भाव में बताया गया है।

३) विसर्ग - अधर का बाहर निकलना। इसका प्रयोग (स्त्रियों के) विलास, उदासीनता, रंजन, इत्यादि भाव में बताया गया है।

४) विनिगूहन - अधर को अंदर की ओर ले जाना। इसका प्रयोग श्रम, आयास (प्रयत्न), इत्यादि भाव में बताया गया है।

५) सन्दष्टक - अधर को दाँतों से दबाना। इसका प्रयोग क्रोध इत्यादि भाव में बताया गया है।

६) समुद्गक - अधर को स्वाभाविक रखना या बाहर की तरफ थोड़ा-सा ऊँचा करना। इसका प्रयोग अनुकंपा, अभिनंदन, चुंबन, इत्यादि भाव या क्रिया में बताया गया है।

- **चिबुक (ठोड़ी) भेद :**

  ७ चिबुक भेद बताये गए हैं :

१) कुट्टन - दाँतों का संघर्ष या कड़कड़ाना। इसका प्रयोग भय, शीत, व्याधि, ज्वर, इत्यादि में बताया गया है।

२) खण्डन - दाँतों को बार-बार चबाना। इसका प्रयोग जप, अध्ययन, संलाप, भक्षण, इत्यादि में बताया गया है।

३) छिन्न - दाँतों को जोर से मिलाना। इसका प्रयोग व्याधि, भय, शीत, व्यायाम, रुदन, मरण, इत्यादि में बताया गया है।

४) चुक्कित - दाँतों (दंतरेखा) को परस्पर दूर तक हटा लेना। इसका प्रयोग उबासी (जम्हाई) लेने में, चुंबन, इत्यादि में बताया गया है।

५) लेहित - दाँतों को जिह्वा से चाटना। इसका प्रयोग चाटना, चंचलता, इत्यादि में बताया गया है।

६) सम - दाँतों का थोड़ा मिलना। इसका प्रयोग स्वाभाविक चेष्टाओं में बताया गया है।

७) दष्ट - दाँतों से अधर दबाना। इसका प्रयोग क्रोध इत्यादि में बताया गया है।

- **मुखज (अस्य) भेद :**

  ६ मुखज भेद बताये गए हैं :

१) विनिवृत्त - सीधा खुला हुआ मुख। इसका प्रयोग स्त्रियों के असूया, ईर्ष्या, कोप, अवज्ञा, संकोच तथा विहृत (विहार) इत्यादि में बताया गया है।

२) विधुत - तिरछा खुला हुआ मुख। इसका प्रयोग निवारण, निषेध कथन, इत्यादि में बताया गया है।

३) निर्भुग्न - नीचे की ओर झुका हुआ मुख। इसका प्रयोग गंभीर विचार या अवलोकन इत्यादि में बताया गया है।

४) भुग्न - कुछ खुला हुआ मुख। इसका प्रयोग निर्वेद, औत्सुक्य, चिंता, विनय, मंत्रणा (विचार), इत्यादि में बताया गया है।

५) विवृत्त - अधरों से खुला हुआ मुख। इसका प्रयोग हास्य, शोक, भय, इत्यादि में बताया गया है।

६) उद्वाही - ऊपर की ओर उठा हुआ मुख। इसका प्रयोग स्त्रियों की लीला, गर्व, अनादर, आदेशात्मक कथन, क्रोधपूर्ण वचन, इत्यादि में बताया गया है।

- **ग्रीवा (गर्दन) भेद :**

९ ग्रीवा भेद बताये गए हैं :

१) समा - सहज अवस्था में ग्रीवा। इसका प्रयोग साहजिक अवस्था में किया जाता है।

२) नता - झुकी हुई ग्रीवा। इसका प्रयोग अलंकारों को धारण करने में तथा किसी के कंठ का सहारा लेने आदि में किया जाता है।

३) उन्नता - ऊपर उठाकर रखी ग्रीवा। इसका प्रयोग ऊपर की ओर देखने, गर्व आदि में किया जाता है।

४) त्रस्रा - एक ओर मुड़ी हुई ग्रीवा। इसका प्रयोग कंधों द्वारा भार वहन करने, दुःख-प्रदर्शन आदि में किया जाता है।

५) रेचिता - कम्पित, घुमती हुई ग्रीवा। इसका प्रयोग भ्रांति, मंथन तथा 'नृत्त' आदि में किया जाता है।

६) कुञ्चिता - मस्तक सहित नीचे झुकी हुई ग्रीवा। इसका प्रयोग भार युक्त होने, गले का बचाव, आदि में किया जाता है।

७) अञ्चिता - मस्तक सहित पीछे मुड़ी हुई ग्रीवा। इसका प्रयोग ऊपर देखने, लटकने, फाँसी, बालों को खींचने, आदि में किया जाता है।

८) वलिता - चेहरे सहित बगल में मुड़ी हुई ग्रीवा। इसका प्रयोग झुककर देखने आदि में किया जाता है।

९) विवृत्ता - सामने की ओर स्थित ग्रीवा। इसका प्रयोग निश्चित स्थान की ओर प्रस्थान करने आदि में किया जाता है।

उल्लेखनीय है, कि नंदिकेश्वर ने 'अभिनय दर्पणम्' में ४ ग्रीवा भेद बताये हैं।

- **हस्तमुद्रा (हस्त कर्म) :**

हस्तकर्म के अंतर्गत असंयुक्त हस्त तथा उनके विनियोग, संयुक्त हस्त तथा उनके विनियोग, नृत्त हस्त, देवता हस्त, दशावतार हस्त, जाति हस्त, बांधव हस्त, नवग्रह हस्त, इत्यादि समाविष्ट हैं।

हस्तमुद्राएँ अपने आप में अर्थ-सभर चेष्टा हैं। प्रत्येक मुद्रा, तथा उसके विनियोग के एकाधिक अर्थ हैं, जिनका उपयोग विभिन्न रस में होता है। नर्तन विधा में मुद्राएँ एक प्रकार की भाषा का कार्य करती हैं। जिस प्रकार गायन में शब्द अर्थ की स्पष्टता से रस-भाव में अभिवृद्धि करते हैं, उसी प्रकार नर्तन में हस्तमुद्राएँ अर्थ की स्पष्टता से रस में अभिवृद्धि करती हैं। क्योंकि प्रत्येक मुद्रा के एकाधिक अर्थ हैं, उनके रस निश्चित नहीं हैं; परंतु विभिन्न रस में उनका समुचित प्रयोग रस-निष्पत्ति में निश्चित रूप से अभिवृद्धि करता है।

हस्तमुद्राओं की तरह ही वक्षस्थल कर्म, पार्श्व कर्म, उदर कर्म, कटि कर्म, उरु कर्म, जंघा कर्म तथा पाद कर्म का समुचित प्रयोग रस-निष्पत्ति में अभिवृद्धिकर्ता है।

चारी, गति, करण, रेचक, पिण्डीबन्ध, इत्यादि के भेदों के भी निश्चित रस नहीं बताये गए, क्योंकि एकाधिक रस में उनका प्रयोग होता है। परंतु रस-निष्पत्ति में वे सहायक एवं अभिवृद्धिकर्ता अवश्य हैं।[६९]

आंगिक अभिनय में नेत्र को अत्याधिक महत्त्व दिया गया है। रस और दृष्टि के विषय में कहा गया है, कि :

> "रसानामथ वक्ष्यामो दृष्टीनाञ्चेह लक्षणम्।
> तदायत्ता यतश्चित्रे भावव्यक्तिः प्रजायते।।"
>
> - 'समरांगण सूत्रधार'।

अर्थात्, रसों के साथ ही दृष्टियों की बात उठा दी गई है और यह कहा गया है, कि चित्र में भाव की अभिव्यक्ति दृष्टि के अधीन होती है।

आंगिक अभिनय का निरूपण नाट्य या नृत्य में जिस प्रकार से हुआ है, उससे विदीत होता है, कि अन्य अंग, उपांग या प्रत्यांग के विनियोग दो प्रकार के मिलते हैं - अर्थाधारित और रसाधारित। (अर्थ का तात्पर्य है कोई क्रिया या पदार्थ। जैसे फूल बीनना एक क्रिया है। इसके लिए जब किसी हस्त का उपयोग होगा, तो वह अर्थाधारित कहलाएगा।) किन्तु दृष्टियों के नाम ही रसों, स्थायीभावों अथवा संचारीभावों के अनुसार रखे गए हैं और वैसा ही उनका विनियोग कहा गया है। इससे इतना तो स्पष्ट ही है, कि आंगिक अभिनय में दृष्टि का रस या भाव के साथ विशेष संबंध 'शास्त्र' में स्थापित है और वह 'लोक' (जीवन) से भी सिद्ध है। दृष्टि के साथ-साथ अन्य अंगों का भवानुकूल वलन अथवा चलन होता ही है। किन्तु दृष्टि सबका केन्द्र-बिन्दु अथवा दर्पण होती है। जहाँ दृश्य का ही एकाधिपत्य हो, वहाँ दृष्टि को रस, भाव का आधार मानना उचित ही है। मनुष्य-शरीर के अनुरूप ही अन्य प्राणीयों में भी दृष्टि के आधार पर भाव-निरूपण हो सकता है।[७०]

२)   वाचिक अभिनय :

काव्य, कथन, संवाद तथा उससे संलग्न अनुरूप ध्वनि द्वारा प्रस्तुत भाव-प्रदर्शन को 'वाचिक अभिनय' कहा गया है।

नाट्य में वाचिक अभिनय अत्याधिक महत्त्वपूर्ण है, परंतु नर्तन में भी भाव-प्रदर्शन में उसका प्रयोग निश्चितरूप से है।

नर्तन में जो गीत है, उसके शब्द तथा उसे गाने का तरीका भाव-रस के अनुसार हो, तो रस-निष्पत्ति में अभिवृद्धि करते हैं। गायक का स्वर, प्रस्तुति में संगत के लिए उपयुक्त वाद्य, नर्तक के घुँघरू, इत्यादि का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है।

साहित्य का कोई भी स्वरूप, गद्य, पद्य या नाट्य - केवल श्राव्य स्वरूप में भी रसाभिव्यक्ति करने सक्षम हैं, जिसके लिए वाचिक अभिनय का प्रभावशील होना आवश्यक है। इसमें शब्द का चयन, उच्चारण, उतार-चढ़ाव, लय, इत्यादि अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

क्योंकि वाचिक अभिनय भाषा, शब्दों का उपयोग करता है, उससे अर्थ की स्पष्टता सर्वाधिक हो जाती है।

सांस्कृतिक आदान-प्रदान तथा जनरुचि के अनुसार नर्तन विधा में कुछ परिवर्तन आए हैं, उनमें वाचिक अभिनय भी एक है। पारंपारिक रूप से नर्तन के विभिन्न प्रकारों में जो साहित्य उपयुक्त होता था, वह उसी प्रदेश-विशेष में प्रचलित भाषा का होता था। परंतु कालक्रम से नर्तन-शैलीओं का प्रस्तुतीकरण अन्य प्रदेशों में भी होने लगा। जैसे, मूलतः दक्षिण भारतीय नर्तन-शैली भरतनाट्यम् वर्तमान समय में समग्र भारत में प्रचलित-प्रसरित हो चूकी है। वैसे पारंपारिक कृतियों का साहित्य उसी मूल स्थानिक भाषा का होता है तथा आंगिक, आहार्य एवं सात्त्विक अभिनय के कारण रसिक कुछ हद तक उसे समझकर रसानुभूति भी करता है। परंतु नवीन

कृतियों में प्रयोगात्मक रूप से जहाँ प्रस्तुत करना है, उस प्रदेश की भाषाओं का उपयोग होना शुरू हुआ है, जो रसिक को पूर्णतः समझ में आता है। परिणाम स्वरूप रस-निष्पत्ति में अभिवृद्धि होती है। उदाहरण स्वरूप, भरतनाट्यम् की पारंपारिक कृतियों की भाषा तमिल होने के बावजूद भी अभी उसमें हिन्दी, क्वचित् गुजराती जैसी भाषा का प्रयोग दृश्यमान होता है। उसी प्रकार कथक तथा अन्य नर्तन शैलीओं में भी वाचिक अभिनय को अधिक रसपूर्ण बनाने हेतु अन्य भाषाओं का प्रयोग सफलतापूर्वक हुआ है।

३) आहार्य अभिनय :

वेशभूषा, रंगमंच सजावट तथा उससे संलग्न अनुरूप प्रकाश-नियोजन द्वारा प्रस्तुत भाव-प्रदर्शन को 'आहार्य अभिनय' कहा गया है।

नाट्य में आहार्य अभिनय का विशेष महत्त्व ही, क्योंकि उसमें पात्र तथा परिस्थिति का प्रथम परिचय इस प्रकार की रूप सज्जा से ही होता है। पारंपारिक नर्तन में इसका प्रयोग कम है, परंतु नृत्य-नाटिका तथा नर्तन के आधुनिक समय के नावीन्यपूर्ण प्रयोगों में इसका काफी उपयोग हुआ है।

भरतमुनि ने आहार्य का महत्त्व समझाते हुए कहा है, कि जिस प्रकार आत्मा विभिन्न शरीर धारण करके विभिन्न व्यक्तित्त्व धारण करती है, उसी प्रकार कलाकार विभिन्न वस्त्राभूषण धारण करके विभिन्न लक्षण धारण करता है।[७१]

पात्र के जाति (लिंग), वर्ग, संप्रदाय, श्रेणी, दर्जा, इत्यादि दर्शाने में आहार्य का महत्त्व है।

नर्तन में समय के साथ 'आहार्य' में बहुत परिवर्तन आते रहे हैं। पारंपारिक पोषाक में तो समयान्तर से सतत नवीनता आती रही, परंतु वर्तमान समय में पात्र के लक्षण के अनुसार वस्त्राभूषण में प्रयोगात्मक बदलाव भी किये जाते हैं। जैसे कि श्रीकृष्ण का पात्र मोरपंख, मोरमुकुट, पीताम्बर या वैज्यंतीमाला धारण करता है, राधा जी के लिए चुन्नी, कालिय नाग दर्शाने काला पोषाक, सिर पर फ़न्ना, इत्यादि। इस प्रकार का परिवर्तित वस्त्राभूषण प्रयोग तब उपयुक्त है, जब एक कलाकार संपूर्ण प्रस्तुति के दौरान एक ही पात्र प्रस्तुत करता हो। इस प्रकार के प्रयोग से कृति का प्रभाव अत्याधिक बढ़ जाता है। कलाकार के दर्शन मात्र से रसिक को श्रीकृष्ण की अनुभूति होने लगती है, तथा वह अपने आप ही कृष्ण-संबंधी रसानुभूति करने लगता है।

उल्लेखनीय है, कि एक ही कलाकार विभिन्न पात्र दर्शाता हो, तब इस प्रकार का विशिष्ट आहार्य अभिनय अन्य पात्रों के संदर्भ में रस-निष्पत्ति पर नकारात्मक असर करता है।

४) सात्त्विक अभिनय :

मन की उर्मियों - भावनाओं को सहज-रूप से चेहरे पर हाव-भाव से दर्शाकर प्रस्तुत भाव-प्रदर्शन को 'सात्त्विक अभिनय' कहा गया है।

मनुष्य-मन का अत्यंत अभिभूत होकर भाव-विशेष में एकाग्र होना 'सत्त्व' कहलाता है। इस सत्त्व अवस्था से आठ (८) प्रकार के सात्त्विक भाव उत्पन्न होते हैं : स्तंभ, प्रलय, रोमांच, स्वेद, वैवर्ण्य, वेपथु, अश्रु तथा वैस्वर्य। ये प्रयत्नसाध्य न होते हुए सहज-उत्पन्न हैं और उनका अभिनय सात्त्विक अभिनय कहा जाता है। जब नर्तक या नट पात्र की भावावस्था में में पूर्णतः डूब जाए, एकरूप हो जाए, तभी सात्त्विक भाव प्रकट हो सकते हैं। सात्त्विक अभिनय को सर्वश्रेष्ठ अभिनय माना गया है।

सात्त्विक अभिनय प्राकृतिक, स्वयंभू है।

आंगिक अभिनय भावावस्था का बाह्य प्रभाव दर्शाता है, जबकि सात्त्विक अभिनय आंतरिक।

भरतमुनि द्वारा वर्णित 'मुखराग' भी सात्त्विक अभिनय ही दर्शाते हैं।

"अथातो मुखरागस्तु चतुर्था संप्रकीर्तितः।
स्वाभाविकः प्रसन्नश्च रक्तः श्यामोऽर्थसंश्रयः।।"

- 'नाट्यशास्त्र'।

अर्थात्, मुख के चार रंग (प्रकार) स्वाभाविक, प्रसन्न, रक्त तथा श्याम हैं।

१) स्वाभाविक - साहजिक मुख। इसका प्रयोग (स्वाभाविक, मध्यस्थ) शांत रस के प्रदर्शन में होता है।

२) प्रसन्न - प्रसन्नतयुक्त मुख। इसका प्रयोग अद्भुत, हास्य तथा श्रृंगार रस के प्रदर्शन में होता है।

३) रक्त - उग्रता, शौर्य, के कारण लालियुक्त मुख। इसका प्रयोग (मद एवं) वीर तथा रौद्र रस के प्रदर्शन में होता है।

४) श्याम - तकलीफ के कारण कालिमायुक्त मुख। इसका प्रयोग करुण, भयानक तथा बीभत्स रस के प्रदर्शन में होता है।[७२]

सात्त्विक अभिनय कलाकार की पात्र के साथ की एकानुभूति की चरमसीमा है, पराकाष्ठा है। सात्त्विक अभिनय प्रयत्नसाध्य नहीं है। प्रयत्न की भूमिका इतनी हो सकती है, कि पात्र को अनुभव करने का महत्तम प्रयास कलाकार द्वारा किया जाए। अन्यथा सात्त्विक अभिनय स्वतः प्रकट ही है।

भारतीय संगीत को योग का माध्यम माना गया है। सात्त्विक अभिनय निश्चित रूप से उसकी पराकाष्ठा है।

अक्सर ऐसा कहा जाता है, कि कलाकार को रसानुभूति होना आवश्यक है, तभी रसिक को वह अनुभूति हो सकती है। परंतु सात्त्विक अभिनय को संभव बनाने के लिए कलाकार की सूक्ष्म-स्तरीय रसानुभूति अनिवार्य है।

३.२.१० : समग्रलक्षी आकलन :-

इन सभी पूर्व चर्चित घटकों का उचित मेल रस-निर्मिति के लिए अनिवार्य है। इन सब के समन्वय से ही संगीत कला का निर्माण होता है।

उदाहरण स्वरूप, राग तोड़ी के माध्यम से करुण रस की निर्मिति उत्कृष्ट होगी, यदि लय विलंबित या मध्य विलंबित हो। श्रृंगारिक पद (शब्द) रचना 'जाओ श्याम कन्हैया' राग मधुवंती के साथ मध्यलय त्रिताल में निखर जाती है। शांत रस का अभिनय प्रदर्शित करते वक्त साथ में प्रस्तुत वाद्य संगत में भीमपलासी और विलंबित एकताल हो, तो रसाभिव्यक्ति सटीक एवं अत्याधिक प्रभावपूर्ण लगती है।

उल्लेखनीय है, कि प्राचीन तथा मध्यकालीन कला-शास्त्र में जो सिद्धांत बनाये गए, वे सभी सिद्धांत कला के आधुनिक स्वरूप के लिए अनुरूप हो, ऐसा आवश्यक नहीं है, संभव नहीं है। इन दोनों की तुलना सदैव परस्पर सुमेलकारी सिद्ध नहीं होती।[७३]

प्राचीन तथा आधुनिक श्रुति-स्वर व्यवस्था में तफ़ावत है। प्राचीन समय में शुद्ध स्वरों को उनकी अंतिम श्रुति पर माना गया था, जबकि आधुनिक समय में शुद्ध स्वरों को उनकी प्रथम श्रुति पर माना गया है। अतः सप्तक में स्वरों के अंतराल का तफ़ावत हुआ है। स्वर-नाम वही है, पर स्वर-स्थान बदला है। रागों में काफी परिवर्तन है। राग का नाम यदि वही रहा हो, फिर भी उसका स्वरूप अलग है। ताल बदले हैं। (नर्तन की) अंगभंगिमाओं में कुछ परिवर्तन आए हैं। इन तफ़ावतों में से कुछ के शास्त्रोक्त प्रमाण उपलब्ध है, कुछ के नहीं भी है। इन परिस्थितियों में प्राचीन शास्त्र में वर्णित रस एवं सांगीतिक घटकों का संबंध वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सर्वथा अनुरूप सिद्ध नहीं हो सकता।[७४]

परंतु, उल्लेखनीय है, कि सांगीतिक घटकों मे स्वभावगत कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। रस तत्त्व में भी कोई परिवर्तन नहीं है, वह शाश्वत है, सनातन है। अतः उनका परस्पर संलग्न होना निश्चित है।

घटकों के स्वभावगत वैविध्य पर पंडित सुरेश तलवलकर जी का कथन है, कि "स्वर-राग सोने-खोने का, जबकि लय-ताल जागृत रहने का काम, अवस्था है।"[७५]

संदर्भ

१ शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. ११५।

२ कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. २५-२६।

३ अग्निहोत्री आर. एम. (१९७३). संगीत निबंध. रामचन्द्र संगीतालय, ग्वालियरमाला, पृ. १६६।

४ कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ४२-४३, शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ९९, १०१।

५ कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ३१-३७।

६ Pandey, Kanti Chandra. (1959). Comparative Aesthetics, Volume I, Second edition. Chowkhamba Sanskrit series, Varanasi, P. 557, 566-569, 571.

७ अत्रे, प्रभा. (२०१६). अत्रे, प्रभा. (२०१६). स्वरमयी. अनुवाद छापेकर नीलिमा. बी. आर. रिधम्स, दिल्ली. अनुवाद छापेकर नीलिमा. बी. आर. रिधम्स, दिल्ली, पृ. ११३-११४।

८ अग्निहोत्री आर. एम. (१९७३). संगीत निबंध. रामचन्द्र संगीतालय, ग्वालियरमाला, पृ. २४।

९ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. १४३।

१० कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ३१-३७।

११ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ५५, ११०-१११।

१२ Pandey, Kanti Chandra. (1959). Comparative Aesthetics, Volume I, Second edition. Chowkhamba Sanskrit series, Varanasi, P. 562.

१३ Sharma, Premlata. (2000). Indian aesthetics and musicology. Editor Sharma U. Amnaya-Prakasana, Varanasi, P. अ-ऊ, 101-108.

१४ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. १९५-१९७।

१५ आपणुं स्वास्थ्य (जुलाई २०१८), पृ. ३-७।

१६ कनल दीपक, शिल्पकार एवं भूतपूर्व डीन, फेकल्टी ऑफ फाइन आर्ट्स, धि महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, बड़ौदा, दिनांक : ४/७/२०१९।

१७ शर्मा यशपाल. (२००६). भारतीय संगीत में श्रुति. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ३१; शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ५८।

१८ नायक डाह्यालाल शिवराम. (२००३). संगीत कलाधर, द्वितीय आवृत्ति. प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. ७३-७४।

१९ शर्मा यशपाल. (२००६). भारतीय संगीत में श्रुति. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ४१, ४९-५०।

२० कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ३२।

२१ Sharma, Premlata. (2000). Indian aesthetics and musicology. Editor Sharma U. Amnaya-Prakasana, Varanasi, P. 34.

२२ शर्मा यशपाल. (२००६). भारतीय संगीत में श्रुति. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ६३-६६; शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ५८; नायक डाह्यालाल शिवराम. (२००३). संगीत कलाधर, द्वितीय आवृत्ति. प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. ६३।

२३ शर्मा यशपाल. (२००६). भारतीय संगीत में श्रुति. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ७१-७३।

२४ नायक डाह्यालाल शिवराम. (२००३). संगीत कलाधर, द्वितीय आवृत्ति. प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. ६४।

२५ शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. ११६;

शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ५५।

२६ कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ६७; Sharma, Premlata. (2000). Indian aesthetics and musicology. Editor Sharma U. Amnaya-Prakasana, Varanasi, P. 102; वसंत. (१९९४). संगीत विशारद, बीसवाँ संस्करण. संपादन गर्ग लक्ष्मीनारायण. संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. ५४८।

२७ कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ६७।

२८ Association of Rasa and Kaala with Raagas (article), P. 2.

२९ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. १०२-१०४।

३० अग्निहोत्री आर. एम. (१९७३). संगीत निबंध. रामचन्द्र संगीतालय, ग्वालियर, पृ. ७३।

३१ बृहस्पति कैलाशचंद्रदेव. (१९९१). भरत का संगीत सिद्धांत, हिन्दी-समिति-ग्रंथमाला-२८, द्वितीय संस्करण. उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ. २६९-२७२।

३२ शर्मा, प्रेमलता. (१९८८). रस-सिद्धांत : मूल, शाखा, पल्लव और पतझड़, हीरानन्द शास्त्री स्मारक-व्याख्यानमाला-७. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. ३०।

३३ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. १०५।

३४ वसंत. (१९९४). संगीत विशारद, बीसवाँ संस्करण. संपादन गर्ग लक्ष्मीनारायण. संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. ५५०।

३५ शर्मा यशपाल. (२००६). भारतीय संगीत में श्रुति. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ, ६२।

३६ BHU webinar Dated 15-16 June, 2020

३७ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ५५-५७; शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. ११३-११४।

३८ कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. ६७।

३९ शर्मा, स्वतंत्र. (१९८९). पाश्चात्य स्वर लिपि पद्धति एवं भारतीय संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. २२१।

४० शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. ११६; Association of Rasa and Kaala with Raagas (article), P. 2.

४१ अग्निहोत्री आर. एम. (१९७३). संगीत निबंध. रामचन्द्र संगीतालय, ग्वालियर, पृ. ७३।

४२ Association of Rasa and Kaala with Raagas (article), P. 3-4.

४३ संगीत कलाविहार (अंक १), पृ. १५-१६, ६९; अग्निहोत्री आर. एम. (१९७३). संगीत निबंध. रामचन्द्र संगीतालय, ग्वालियर, पृ. ७३-७४।

४४ अग्निहोत्री आर. एम. (१९७३). संगीत निबंध. रामचन्द्र संगीतालय, ग्वालियर, पृ. ७५-८०।

४५ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. १०८।

४६ वही, पृ. ७४, १०८, १४५-१४६, १५६।

४७ संत, विजयकुमार गं., वरिष्ठ कलाकार, बड़ौदा, दिनांक : १५/१०/२०१८।

४८ BHU Webinar Dated 15-16 June, 2020.

४९ https://en.wikipedia.org/wiki/Ragamala_paintings

५० शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. २०४-२३४; वसंत. (१९९४). संगीत विशारद, बीसवाँ संस्करण. संपादन गर्ग लक्ष्मीनारायण. संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. ५४४।

५१ Sage open (October-December 2016), P. 2-11.

५२ श्रीवास्तव गिरीशचंद्र. (१९९६). तालकोश. रूबी प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. २१०।

५३ वसंत. (१९९४). संगीत विशारद, बीसवाँ संस्करण. संपादन गर्ग लक्ष्मीनारायण. संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. ५४३-५५८; संगीत कलाविहार (नवंबर '१४), पृ. ३४-३७; संत विश्वास वि., कलाकार एवं अध्यापक, फेकल्टी ऑफ परफ़ॉर्मींग आर्ट्स, धि महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, बड़ौदा, दिनांक : १९/१/२०२०।

५४ गर्ग, लक्ष्मीनारायण. (२००१). भरतनाट्यम्. संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. ३४२-३४३।

५५ श्रीवास्तव गिरीशचंद्र. (१९९६). तालकोश. रूबी प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. ९७-९८।

५६ नायक डाह्यालाल शिवराम. (२००३). संगीत कलाधर, द्वितीय आवृत्ति. प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. १५९।

५७ Sangeet Galaxy (Vol. 6, Issue 1), P. 48.

५८ वसंत. (१९९४). संगीत विशारद, बीसवाँ संस्करण. संपादन गर्ग लक्ष्मीनारायण. संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. ५५६; शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. १०७; अग्निहोत्री आर. एम. (१९७३). संगीत निबंध. रामचन्द्र संगीतालय, ग्वालियरमाला, पृ. १७-१८।

५९ BHU Webinar Dated 15-16 June, 2020.

६० Rao, Krishna P. (1923). The psychology of music, Enlarged edition. Mysore education service, Bangalore, P. 154-162.

६१ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ६६, ११२।

६२ बृहस्पति कैलाशचंद्रदेव. (१९९१). भरत का संगीत सिद्धांत, हिन्दी-समिति-ग्रंथमाला-२८, द्वितीय संस्करण. उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ. २६६।

६३ Sangeet Galaxy (Vol. 6, Issue 1), P. 48; वसंत. (१९९४). संगीत विशारद, बीसवाँ संस्करण. संपादन गर्ग लक्ष्मीनारायण. संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. ५५२।

६४ Rao, Krishna P. (1923). The psychology of music, Enlarged edition. Mysore education service, Bangalore, P. 102-108.

६५ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. १०७।

६६ Sarabhai, Mrinalini. (1992). Understanding Bharatanatyam, Fifth edition. Darpan publication, Ahmedabad, P. 34.

६७ Nandikesvara, (1975). Abhinayadarpanam, Third edition. Editor and translator Ghosh, Manomohan. Manisha Granthalaya private limited, Calcutta, P. 7-8, 14, 18.

६८ EPG पाठशाला, पृ. ८-९।

६९ गर्ग, लक्ष्मीनारायण. (२००१). गर्ग, लक्ष्मीनारायण. (२००१). भरतनाट्यम्. संगीत कार्यालय, हाथरस. संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. २६१-२७९।

७० शर्मा, प्रेमलता. (१९८८). रस-सिद्धांत : मूल, शाखा, पल्लव और पतझड़, हीरानन्द शास्त्री स्मारक-व्याख्यानमाला-७. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. xvii।

७१ Sarabhai, Mrinalini. (1992). Understanding Bharatanatyam, Fifth edition. Darpan publication, Ahmedabad, P. 36.

७२ गर्ग, लक्ष्मीनारायण. (२००१). गर्ग, लक्ष्मीनारायण. (२००१). भरतनाट्यम्. संगीत कार्यालय, हाथरस. संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. २७८।

७३ कलिंगवुड, रोबिन ज्योर्ज. (१९७२). कला के सिद्धांत. अनुवाद पालीवाल ब्रजभूषण. राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, पृ. ३०।

७४ Nandikesvara, (1975). Abhinayadarpanam, Third edition. Editor and translator Ghosh, Manomohan. Manisha Granthalaya private limited, Calcutta, P. 20; अग्निहोत्री आर. एम. (१९७३). संगीत निबंध. रामचन्द्र संगीतालय, ग्वालियर, पृ. ८०-८४।

७५ BHU Webinar Dated 15-16 June, 2020.